

आचार्य मम्मट



लेखक

प्रो. धुंडिराज गोपाल सप्रे

एम.ए. (संस्कृत-मराठी-हिन्दी) सप्ततीर्थ, शास्त्री;



मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
द्वारा प्रकाशित

• • •

• • •

प्रथम संस्करण : १९७१

• • •

मूल्य : छः रुपये

• • •

मुद्रक —
भारती प्रिण्टिग प्रेस,
[भारती पब्लिकेशन्स (प्रा.) लि. द्वारा सञ्चालित]
भारती भुवन, १५१, इमली बाजार,
इन्दौर — ४ (म. प्र.).

प्राक्कथन

इस बात पर सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास एवं मौलिक चिन्तन की अभिवृद्धि में अधिक सहायक होती है । इसी कारण स्वातन्त्र्य आन्दोलन के समय एवं उसके पूर्व से ही स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी जैसे देशमान्य नेताओं ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की दृष्टि से आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश में शिक्षा सम्बन्धी जो कमीशन या समितियाँ नियुक्त की गयीं, उन्होंने एकमत से इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया ।

इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा थी- श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव । हम सब जानते हैं कि न केवल विज्ञान और तकनीक, अपितु मानविकी के क्षेत्र में भी विश्व में इतनी तीव्रता से नये अनुसंधानों और चिन्तनों का आगमन हो रहा है कि यदि उसे ठीक ढंग से गृहीत न किया गया तो मातृभाषा से शिक्षा पाने वाले अंचलों के पिछड़ जाने की आशंका है । भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने इस बात का अनुभव किया और भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालयीन स्तर पर उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए समुचित आर्थिक दायित्व स्वीकार किया । केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय की यह योजना उसके शत प्रतिशत अनुदान से राज्य अकादमियों द्वारा कार्यान्वित की जा रही है । मध्यप्रदेश में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी है ।

अकादमी विश्वविद्यालयीन स्तर की मौलिक पुस्तकों के निर्माण के साथ, विश्व की विभिन्न भाषाओं में बिखरे हुए ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को उपलब्ध करेगी । इस योजना के साथ राज्य के सभी महा-विद्यालय तथा विश्वविद्यालय सम्बद्ध हैं । मेरा विश्वास है कि सभी शिक्षा-शास्त्री

एवं शिक्षाप्रेमी इस योजना को प्रोत्साहित करेंगे। प्राध्यापकों से मेरा अनुरोध है कि वे अकादमी के ग्रन्थों को छात्रों तक पहुँचाने में हमें सहयोग प्रदान करें जिससे बिना और विलम्ब के विश्वविद्यालयों में सभी विषयों के शिक्षण का माध्यम हिन्दी बन सके।

जगदीश नारायण अवस्थी
शिक्षामंत्री,
अध्यक्ष
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्रस्तावना

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रारम्भ आचार्य भरत से माना जाता है। उनके नाट्यशास्त्र में नाट्य और अभिनय के सम्बन्ध में रस, अलङ्कार वृत्ति और गुण-दोष आदि का विवेचन हुआ है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि भरत के समय तक साहित्य का विशुद्ध काव्याङ्ग इतना पुष्ट नहीं था जितना नाट्य और रंगमंच। भरत के पश्चात् कुछ ही शताब्दियों के भीतर अनेक काव्य-ग्रन्थ प्रकाश में आये और स्फुट रचनाओं की तो जैसे बाढ़ ही आगयी। परिणाम-स्वरूप काव्य के शास्त्र की भी आवश्यकता हुई और तब विचारकों ने दोनों विधाओं के लिए सामान्य रूप से उपयोगी तत्व भरत से लेकर उनका ऐसा उपबृंहण किया जिससे काव्य-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। ऐसा करते समय उन्होंने कुछ पुराने विचार लिये, उनमें कुछ नये विचार जोड़े, नये अंगों का विकास किया और इन सबको शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि में उपस्थापित किया। वामन, भामह, रुद्रट, उद्भट, दण्डी, कुन्तक, आनन्दवर्धन और मम्मट इसी परम्परा के आचार्य हैं। भरत के बाद वामन और उनके बाद आनन्दवर्धन ने आकर काव्य-चिन्तन में एक नया मोड़ लिया और आगे चलकर उनका सिक्का कुछ इस तरह बैठ गया कि ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करने वाले आचार्य भी किसी न किसी रूप में उनसे प्रभावित होते रहे।

'काव्य प्रकाश' आचार्य मम्मट की कृति है। इसमें पुरातन के लिए सम्मान है और नवीन के प्रति आस्था। उन्होंने भरत से लेकर आनन्दवर्धन तक की काव्यशास्त्रीय खोजों का ऐसा सुन्दर एवं समन्वित उपयोग किया कि उनकी रचना स्वविषयक ग्रन्थों में मूर्धन्य मानी जाने लगी। इसके पश्चात् किसी बड़े से बड़े आचार्य की भी कृति उसकी प्रतिष्ठा को कम न कर पायी।

आचार्य भरत से लेकर अप्पय दीक्षित तक लगभग ८०० वर्षों में भारत में काव्यशास्त्र का सूक्ष्म मन्थन चलता रहा है। प्रत्येक आचार्य और उसकी विचार-सरणि की अपनी विशेषताएं हैं। आचार्य मम्मट इस माला के अत्यन्त दीप्यमान रत्न हैं। इनका अध्ययन-अध्यापन चिरकाल से भारतीय विश्वविद्यालयों में होता आया है। इसलिए भी आवश्यक समझा गया कि ऐसे मनीषी की

कृति का एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय जो गत आठ नौ वर्षों से साहित्यशास्त्र के अध्येताओं का प्रणम्य रहा है।

प्रस्तुत कृति के लेखक प्रो. डी. जी. सप्रे मध्यप्रदेश के अत्यन्त अनुभवी प्राध्यापक हैं। उन्हें 'काव्य-प्रकाश' के अध्यापन का दीर्घकालीन अनुभव है। मुझे विश्वास है कि उनके द्वारा प्रस्तुत आचार्य मम्मट का यह समीक्षात्मक अध्ययन जिज्ञासुओं को परितृप्ति प्रदान करेगा।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

भोपाल :
१५ मार्च, १९७१

सञ्चालक,
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,

अनुक्रमणी

पृष्ठसंख्या

अध्याय १. (१–१९) आचार्य मम्मट : व्यक्ति तथा साहित्य ।

आचार्य मम्मट का समय ।	१–८
आचार्य मम्मट का पण्डित्य तथा साहित्य ।	८–१९

अध्याय २. (२०–४८) काव्यप्रकाश की टीकाएं, पाण्डुलिपियाँ, संस्करण आदि ।

काव्यप्रकाश की टीकाएँ, उनके लेखक आदि ।	२०–४४
काव्यप्रकाश के संस्करण संस्कृत, हिन्दी, मराठी आदि ।	४४–४७
काव्यप्रकाश की पाण्डुलिपियाँ ।	४७–४८

अध्याय ३. (४९–५८) काव्यप्रकाश का बाह्यस्वरूप ।

काव्यप्रकाश की रचना ।	४९–५०
सूत्र, वृत्ति, उदाहरणों के रचयिता की विभिन्नता की चर्चा ।	५०–५५
क्या सम्पूर्ण काव्यप्रकाश केवल मम्मट की रचना है अथवा अन्य किसी ने इसकी रचना में योगदान दिया है ?	५५–५८

अध्याय ४. (५९–७३) काव्यप्रकाश का अन्तरङ्ग ।

काव्यप्रकाश के प्रकरण-प्रतिपाद्य विषय ।	५९–६५
आचार्य मम्मट की प्रतिपादन-शैली का विवेचन ।	६५–७३

अध्याय ५. (७४–१४२) भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा ।

(खण्ड – क)

१ साहित्यशास्त्र का नामकरण ।	७४–७८
२ साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा तथा इनमें प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त विवेचन ।	७८–१०७

(खण्ड – ख)

आचार्य मम्मट का साहित्यशास्त्र में योगदान ।

आचार्य मम्मट का इन विषयों के स्वरूपनिश्चय तथा विकास में योगदान । १०८–१४२

अध्याय ६. (१४३–१५४) भारतीय साहित्य और आचार्य मम्मट ।

आचार्य मम्मट पर पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों का प्रभाव । १४३–१४८

आचार्य मम्मट का उत्तरकालिक साहित्यशास्त्रियों पर प्रभाव । १४८–१५०

आचार्य मम्मट का (अन्य) साहित्यशास्त्र के रचयिताओं में स्थान तथा महत्त्व । १५०–१५४

परिशिष्ट

१– आधारभूत ग्रन्थों की सूचि तथा उनके संक्षेप । १५५–१५८

२– प्रमुख साहित्यशास्त्रियों का समय तथा साहित्य । १५९–१६०

●

आचार्य मम्मट

अध्याय – १

आचार्य मम्मट : व्यक्ति तथा साहित्य

आचार्य मम्मट का समय :

काव्यप्रकाशकार श्री मम्मट ने अपने जन्मसमय के विषय में अपने ग्रन्थ में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। महाकवि कालिदास से लेकर हम यह देखते आये हैं कि प्राचीन लेखक अपने समय आदि का उल्लेख अपने ग्रन्थ में अथवा अन्यत्र करने में प्रायः उदासीन रहा करते थे। इसी कारण उनके समय आदि का निश्चय करने में बाद के साहित्येतिहास-लेखकों को बड़ी कठिनाई होती है। श्रीहर्ष जैसे कुछ इने-गिने महाकवि तथा साहित्य-रचयिता हैं, जिन्होंने अपने समय तथा योग्यता के विषय में स्पष्ट उल्लेख किया है।[१] किन्तु जहाँ इस तरह का उल्लेख नहीं है वहाँ हमें बाह्य या आभ्यन्तर प्रमाणों के द्वारा ही इस बात का निश्चय करना पड़ता है। आचार्य मम्मट के समय के विषय में भी हमें बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रमाणों से ही निश्चय करना पड़ रहा है; किन्तु प्रसन्नता की बात यह है कि हम इन द्विविध प्रमाणों के द्वारा आचार्य मम्मट का समय लगभग निश्चित रूप से कह सकते हैं।

बाह्य-प्रमाण :

(अ) आचार्य मम्मट का नामोल्लेख कर उनका निर्देश करने वाले 'सर्व-दर्शन-संग्रह' के रचयिता माधवाचार्य हैं। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के पातञ्जलदर्शन के आरम्भ में लिखा है—'तदुक्तं काव्यप्रकाशे।'[२] इन माधवाचार्य का समय १३३५ ख्रि. अ. माना गया है।[३]

(आ) सुप्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्य-दर्पण' के रचयिता श्री विश्वनाथ का समय (म. म. काणे के अनुसार) १३००–१३८० ख्रि. अ. है।[४]

---

१. दे. नै. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् इ.।

२. दे. स. द. सं. पातं. दर्शन.।

३. दे. का. प्र. झ. भू., पृ. ४।

४. H. S. Poetics by P. V. Kane, P. 291. The date above assigned to viz. between 1300–1380 AD is thus confirmed by an unimpeachable and independent testimony.

विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण के प्रारम्भ में ही काव्य-लक्षणकी चर्चा की है तथा 'कश्चिदाह तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'[१] इस काव्यप्रकाशकार के काव्यलक्षण का उल्लेख करके विस्तार से उसका खण्डन किया है।

(इ) इसी साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'दर्पण' नाम से ही 'काव्यप्रकाश' पर एक टीका लिखी है।

उपरोक्त उल्लेखों से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि माधवाचार्य तथा विश्वनाथ के समय आचार्य मम्मट का 'काव्यप्रकाश' साहित्यशास्त्र के विद्वानों में अपनी पूरी ख्याति प्राप्त कर चुका था। अतएव साहित्य-दर्पण जैसे स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की क्षमता धारण करने वाले विश्वनाथ को भी 'काव्यप्रकाश' पर टीका लिखने को उद्यत होना पड़ा था। अतः इन बाह्य प्रमाणों से आचार्य मम्मट के अस्तित्व की अन्तिम सीमा १३०० ई. के पूर्व की ही ठहरती है।

इसी प्रकार आचार्य मम्मट के अस्तित्व की पूर्व सीमा के विषय में विचार करते समय हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि आचार्य भरत से लेकर राजा भोज तक के किसी भी साहित्यशास्त्री, महाकवि तथा नाटककार ने अपने साहित्य में आचार्य मम्मट का अथवा उसकी कृति 'काव्यप्रकाश' का उल्लेख नहीं किया है, न उसकी कृति से कोई उद्धरण दिया है। अर्थात् राजा भोज ही, जिनका समय ११ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध म. म. काणे ने बड़े युक्तिवाद के साथ निश्चित किया है,[२] आचार्य मम्मट के स्थितिकाल की पूर्वसीमा हो सकते हैं।

आभ्यन्तर प्रमाण :

आचार्य मम्मट का स्थितिकाल भोज के बाद का ही है यह तथ्य आन्तरिक प्रमाणों से भी सिद्ध हो सकता है।

(अ) काव्यप्रकाशकार ने दशम उल्लास में उदात्त अलङ्कार के उदाहरण स्वरूप भोज की उदारता का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

'मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः ... ...
... ...भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्।

यह पद्य यद्यपि कवि भोज के जीवनकाल में लिखा होगा तो भी वह उसके उत्तरकाल में ही (दे. पृ. ३ पं. १) जब भोज की उदारता का यथेष्ट प्रचार हो

१. सा. द., पृ. ६–७।
२. दे. हि. सं. पो. का., पृ. २५०–५१।

चुका था, लिखा गया होगा। भोज का समय १०५४ ई. के आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। यह बात म. म. काणे ने अपने अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में स्पष्ट की है।[१] अतः 'काव्यप्रकाश' की रचना १०५० ई. के पूर्व की नहीं हो सकती।

(आ) आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में महाकवि पद्मगुप्त-रचित 'नवसाहसाङ्कचरितम्' से कुछ उद्धरण दिये हैं, जैसे:—

(क) "शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानिलः॥" नव-सर्ग १६/२८

(ख) "सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥" नव. सर्ग १/६२

(ग) "पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः।
रूपं समुन्मूलितसद्विलासम् अस्त्रं विलासः कुसुमायुधस्य॥" नव. सर्ग १
आचार्य पद्मगुप्त के "नवसाहसाङ्कचरितम्" की रचना लगभग १००५ ई. की है।[२]

(इ) "औचित्यविचारचर्चा" के रचयिता क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शती का द्वितीय तथा तृतीय चरण रहा है और इनके गुरु अभिनवगुप्त हैं जिनका साहित्य-सर्जन-समय भी ९८०-१०२० ई. के मध्य में पड़ता है।[३] इन अभिनवगुप्त का सादर उल्लेख आचार्य मम्मट अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में करते हैं, "इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः"।

(ई) जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपना ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' ११४३ ई. के लगभग लिखा है। उसमें वे 'काव्यप्रकाश' का निर्देश करते हैं।[५]

(उ) 'काव्यप्रकाश' के सर्वप्रथम टीकाकार माणिक्यचन्द्र थे जिन्होंने अपनी व्याख्या 'संकेत' की रचना १२१६ वि. सं. तदनुसार ११५९–६० ई. में की।[६] इस 'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र अनेक स्थलों पर रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' का उल्लेख करते हैं तथा रुय्यक ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर 'काव्यप्रकाश' के विषयों का उल्लेख कर उनकी चर्चा

---

१. दे. हि. सं. पो. का., पृ. २६२-६३।
२. दे. हि. सं. पो. का., पृ. २६३।
३. दे. हि. सं. पो., पृ. २५४–५५।
४. का. प्र. झ., पृ. ९५।
५. दे. "यथाह मम्मट : अगूढ़मपरस्याङ्गम्" इ., पृ. १०९। काव्यानु.।
६. दे. हि. सं. पो., पृ. २६३।

की है।[1] रुय्यक के इस 'अलङ्कारसर्वस्व' का समय ११३५–५० ई. के मध्य में पड़ता है।[2]

इन समस्त प्रमाणों के आधार पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की रचना राजा भोज के पश्चात् अर्थात् १०५४ ई. के बाद तथा ११०० ई. के पूर्व की होनी चाहिये।

आचार्य मम्मट का वंश, निवास आदि :

आचार्य मम्मट के पारिवारिक जीवन की स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनके निवास आदि के विषय में यत्र-तत्र कुछ उल्लेख मिलते हैं।

आचार्य भीमसेन ने अपनी 'सुधासागर' नामक 'काव्यप्रकाश' की व्याख्या की भूमिका में जो लिखा है उससे निम्न बातें ज्ञात होती हैं :—

(अ) आचार्य मम्मट काश्मीर देश में उत्पन्न हुए थे तथा वे साक्षात् देवी सरस्वती के अवतार थे।[3]

(आ) आचार्य मम्मट के पिता जैयट थे तथा उनके दो लघु भ्राता थे। एक था "कैयट" और दूसरा था "उवट" या "औवट"। ये दोनों भ्राता मम्मट के शिष्य भी थे।[4] कैयट ने व्याकरण-महाभाष्य पर तथा औवट ने वेदों पर व्याख्याएँ रची हैं।[5]

(इ) आचार्य मम्मट साक्षात् वाग्देवी सरस्वती के अवतार होने पर भी लोकमर्यादा के पालन हेतु वाराणसी गये तथा वहाँ पर शास्त्रों का अध्ययन करके उन्होंने "साहित्यसूत्र" अर्थात् काव्यप्रकाश की रचना की।[6]

---

१. दे. अलं. स. पृ. १०२, १०७, १९९ इ.।

२. दे. हि. सं. पो. पृ. २७३।

३. दे. "तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्।" सु. सा., पृ. ४।

४. दे. श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः।" सु. सा., पृ. ४।
तथा "श्रीमान्कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतौ।" सु. सा., पृ. ६।

५. दे. "भाष्याब्धि निगमं यथाक्रमपनुव्याख्याय सिद्धिं गतः।" सु. सा., पृ. ६।

६. दे. "मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपद्यादरात्।
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात्।" सु. सा., पृ. ५। तथा....
को वा गुणान्वेदितुम्। शक्तः स्यात्किलमम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः।
सु. सा., पृ. ६।

सुधासागरकार की दी हुई यह जानकारी संपूर्ण रूप से विश्वसनीय मानना कठिन है। ऐसा श्री वामनाचार्य झलकीकर[1] तथा म. म. काणे[2] का अभिमत है। क्योंकि, यदि "उवट" को मम्मट का लघु भ्राता माना जाय तब निम्न पद्यों के द्वारा प्राप्त जानकारी इस तथ्य के विरुद्ध जाती है।

(उ) औवट कृत वाजसनेयिसंहिताभाष्य में यह पद्य —

"ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्।
मन्त्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राष्ट्रं प्रशासति ॥

तथा इसी भाष्य की एक अन्य पुस्तक में —

"आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
"मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ॥

ये पद्य उपलब्ध होते हैं। इनके अनुसार (औ) उवट 'अवन्ती' उज्जयिनी का निवासी तथा राजा भोज के समय में था। तथा वह आनन्दपुर (गुजरात का एक नगर) निवासी "वज्रट" का पुत्र था, जैयट का नहीं।[3]

किन्तु इन पद्यों की प्रामाणिकता निश्चित रूप से मान लेने में अड़चन है। इन दोनों पद्यों में (औ) उवट को भोज-समकालीन माना गया है, किन्तु पूर्वनिर्णीत प्रमाणों के आधार पर आचार्य मम्मट को भोज के बाद का माना गया है फिर उसी के लघुभ्राता का अस्तित्व "भोजे राष्ट्रं प्रशासति" के समय कैसे संभव है? इसी प्रकार एक परिवार के इन भ्राताओं का वाराणसी, उज्जयिनी, गुजरात तथा काश्मीर इन सुदूरपूर्वी प्रान्तों में निवास या संचार भी कुछ असंभव-सा लगता है। और आचार्य मम्मट के ये दोनों लघुभ्राता छात्र रहे हैं, यह तथ्य भी विचारणीय है। यदि इन पद्यों के अनुसार (औ) उवट को वज्रट का पुत्र मानते हैं और मम्मट का भाई भी, तो मम्मट कैयट का भाई नहीं माना जा सकता। क्योंकि कैयट जैयट का पुत्र है, वज्रट का नहीं। श्री वामनाचार्य झलकीकर औवट के जनक पिता जैयट और दत्तकपिता वज्रट मानकर संगति लगाने की एक कल्पना करते हैं।[4] जैयट और कैयट दोनों सगोत्र होने से यह कल्पना सुसंगत भी हो सकती है। तथापि इस कल्पना में "उवट" का

१. दे. का. प्र. झ. भू., पृ. ७।
२. दे. हि. सं. पो., २६२।
३. का. प्र. झ., पृ. ७।
४. वही, पृ. ७।

"भोजसमकालीनत्व" उसके आचार्य मम्मट के भ्रातृत्व में महान बाधक है। अतः उज्जैन तथा आनन्दपुरनिवासी यह वज्रट पुत्र औवट कोई अन्य हो सकता है। अथवा जैयटपुत्र उवट के भाष्य में ये दो पद्य पश्चात् किसी अन्य व्यक्ति ने भ्रान्त जानकारी के आधार पर तैयार करके सम्मिलित कर दिये होंगे।

म. म. काणे सुधासागरकार भीमसेन के द्वारा दी गयी इस जानकारी को मम्मट से लगभग ६०० वर्ष (१६७२–७३ ई.) बाद की होने के कारण अविश्वसनीय मानते हैं[1]; और ध्वनिसादृश्य के (मम्मट, जैयट, उवट) आधार पर दी गयी होगी, ऐसी कल्पना करते हैं[2] तथा आगे यह भी कहते हैं 'There is therefore nothing improbable in मम्मट being a brother of उवट but he cannot then be the brother of कैयट whose father was जैयट।[3] किन्तु भोज का समकालीन यह उवट मम्मट का भाई कैसे हो सकता है? इस बात पर उन्होंने कुछ नहीं कहा है। उवट मम्मट का "अनुज" तथा छात्र था इस विषय में भी उन्होंने अपनी विमति प्रदर्शित नहीं की है। अतः आचार्य मम्मट के विषय में निश्चित रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे काश्मीर के निवासी थे। क्योंकि, "मम्मट" यह नाम जैयट-कैयट-वज्रट-उवट-उद्भट-रुद्रट-कल्लट जैसा ही टकारान्त है और ये सारे पण्डित काश्मीरी हैं। इसी प्रकार मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद बतलाते समय लिखा है, "किंच कुरु रुचिम् इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम्[4]" इत्यादि। इस पंक्ति की व्याख्या करते समय आचार्य विश्वनाथ ने अपने "दर्पण" में कहा है "चिंकुपदम् काश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थबोधकम्"। अर्थात् "कुरु रुचिम्" को विपरीत बनाने से जो "रुचिम् कुरु" में "चिंकु" पद का भान होता है वह काश्मीरी आदि भाषा में अश्लील अर्थ को बतलाता है। आ. मम्मट काश्मीरी होने से ही यह उदाहरण दे सके हैं।[5] वाराणसी में उनका अध्ययन हुआ था। उन्होंने 'काव्यप्रकाश' की रचना की तथा वे वाग्देवता के अवतार-से माने जाते थे।

आचार्य मम्मट का उल्लेख "राजानक मम्मट" ऐसा भी किया जाता है। आनन्दकविकृत "निदर्शना" नामक काव्यप्रकाश की टीका के आरम्भ में "राजानककुलतिलको मम्मटनामा दैशिकवरः" ऐसा उल्लेख आता है।

---

१. दे. हि. सं. पो., पृ. २६२।
२. दे. वही।
३. दे. हि. सं. पो., पृ. २६२।
४. का. प्र. झ., पृ. ४०५।
५. दे. का. प्र. झ., पृ. ६।

"राजानक" का अर्थ हैं "राजा के समान" ।[1] यह उपाधि काश्मीरी ब्राह्मणों को राजाओं के द्वारा दी जाती थी । कल्हण की 'राजतरंगिणी' में, जो एक ऐतिहासिक महाकाव्य माना गया है, यह पद्य मिलता है —

> "राज्ञी कृतज्ञभावेन सापि मन्त्रिसभान्तरे ।
> तमाजुहाव निर्द्रोहं स्वयं राजानकाख्यया ।।"[2]

बुहलर्स काश्मीर रिपोर्ट पृ. ६ में काश्मीरी पण्डितों के अनुसार आचार्य मम्मट को नैषधीयचरित्र महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष का मातुल माना गया है । यह भी प्रसिद्ध है कि आचार्य मम्मट के मत से श्रीहर्ष का नैषधीयचरित्र अनेक दोषों से दूषित था । यदि 'काव्यप्रकाश' के दोष-प्रकरण की रचना के समय यह काव्य मम्मट को प्राप्त हो जाता तो उसे दोषों के लक्षण ढूँढने का प्रयास नहीं करना पड़ता ।

किन्तु इस किंवदन्ती की यथार्थता ऐतिहासिक तथ्यों के सामने सिद्ध नहीं हो पाती । श्रीहर्ष कन्नोज के अधिपति राजा जयन्तचन्द्र की राजसभा में सम्मान प्राप्त करने वाले पण्डित थे । यह बात नैषधीयचरित्र से ही ज्ञात होती है ।[3] इस जयन्तचन्द्र का समय ११८७ ई. के लगभग तथा श्रीहर्ष का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध माना गया है ।[4] श्रीहर्ष, भोज तथा मम्मट के बाद के हो सकते हैं । भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में 'नैषधीयचरित्र' से एक भी पद्य उदाहरण के रूप में नहीं लिया गया है । 'काव्यप्रकाश' के दोषप्रकरण में[5] भी 'नैषधीयचरित्र' के किसी पद्य का उल्लेख नहीं किया है । लगता है मम्मट ने 'नैषधीयचरित्र' देखा ही नहीं होगा । अन्यथा इस ग्रन्थ से कुछ उदाहरण वे अवश्य उद्धृत करते । बाद के लेखकों ने उनके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं । अतः इस किंवदन्ती का आधार काश्मीरी-पण्डितों के हृदय में श्रीहर्ष की विद्वत्ता के विषय में जो कटुता थी वही हो सकता है ।

'राजतरङ्गिणी' के पूर्वोक्त उल्लेख से यह बात सिद्ध होती है कि 'राजानक' उपाधि काश्मीर में राजाओं के द्वारा पण्डितों को दी जाती थी । इस प्रकार के अन्य उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । जैसे "राजानक महिमभट्ट" ('व्यक्तिविवेक'

---

१. दे. हि. सं. पो., पृ. १६३ ।
२. रा. त. ६–२६१ ।
३. दे. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते इ. नै. सर्ग. २२ अन्तिम श्लोक नि. सा. आवृत्ति सन् १९२८ ।
४. दे. नै. भू., पृ. ८-९
५. का. प्र. उल्ला. ७ वे में ।

ग्रन्थ के रचयिता) "राजानक रुय्यक" ('अलङ्कारसर्वस्व' के निर्माता) राजानक जयानक आदि। आचार्य मम्मट का जो उल्लेख 'निदर्शना' टीका में "राजानककुलतिलक" के रूप में आया है उससे यह भी कहा जा सकता है कि मम्मट के कुल में "राजानक" यह उपाधि पूर्वपरम्परा से चली आ रही थी।

चतुर्थ उल्लास में शान्तरस के उदाहरण में "अहौ वा हारे वा" इत्यादि पद्य का देना, भी, जिसकी रचना काश्मीरदेशीय आचार्य अभिनवगुप्त के गुरु तथा प्रत्यभिज्ञासूत्रादि ग्रन्थों के रचयिता श्री उत्पलराज ने की है, आचार्य मम्मट के काश्मीरी होने में उपोद्‌बलक प्रमाण हो सकता है। निरुपादानसंभा. द. इ. पद्य भी काश्मीरी कवि नारायणभट्ट का है।[1]

आचार्य मम्मट का पाण्डित्य :

श्री वामनाचार्य झलकीकर के अनुसार[2] आचार्य मम्मट एक "अनुपम" पण्डित थे। इसी कारण 'काव्यप्रकाश' को "आकर" ग्रन्थ माना जाता है। इसकी प्रामाणिकता के कारण वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा आदि ग्रन्थों में अपने कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए इसे "तदुक्तं काव्यप्रकाशे" इस प्रकार उद्धृत किया गया है। सुप्रसिद्ध "सुधासागरी" के टीकाकार भीमसेन तो मम्मट को "वाग्देवतावतार" कहते हैं।[3] गोविन्दठक्कुर ने अपने 'काव्य-प्रदीप' में काव्यप्रकाशकार पर "शिथिलता" का आरोप किया था। उसका खण्डन भीमसेन ने महान् प्रयास से किया है और बाद में उन्होंने — "तस्माद् गोविन्दमहामहोपाध्यायानामीर्ष्यामात्रमवशिष्यते। न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतारोक्तिमाक्षेप्तुम् प्रभवन्ति।" इत्यादि द्वारा मम्मट के कथन को अकाट्य बतलाकर उनमें अपनी श्रद्धा प्रगट की है।

'काव्यप्रकाश' की "निदर्शना" टीका के रचयिता श्री आनन्द कवि काश्मीर निवासी तथा शैव थे। वे अपनी टीका के आरम्भ में लिखते हैं—इति शिवागमप्रसिद्ध्या षट्‌त्रिंशत्तत्वदीक्षाक्षपितमलपटलः प्रकटितसत्स्वरूपश्चिदानन्दघनः राजानककुलतिलको मम्मटनामा दैशिकवरः इ.।[4] इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि आचार्य मम्मट शैव आगम के ज्ञाता ही नहीं थे अपितु उस "सम्प्रदाय" में

---

१. दे. का. प्र. झ., पृ. १३२ तथा कण्ठकोणविनिविष्ट. इ., पृ. ११९। यह पद्य भी उत्पलराज का है।
२. दे. का. प्र. झ., पृ. ८।
३. दे. सु. सा. भूमिका, पृ. ६।
४. दे. का. प्र. झ. भू., पृ. २७।

दीक्षित होकर उन्होंने अपना "मलपटल क्षपित" कर लिया था। शैव आगम तथा शैव सम्प्रदाय के लिये काश्मीर की ख्याति भी है।

आचार्य मम्मट के पाण्डित्य के विषय में श्री झलकीकरजी लिखते हैं—"अयं खलु मम्मटः सर्वशास्त्रहृदयोऽपि मुख्यतया वैयाकरणः"।[१] हम इस कथन से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। हम इन्हें एक उत्तम मीमांसक भी मानते हैं। इसे हम आगे सिद्ध करेंगे। भाषाशुद्धि के लिए तथा भाषा-गौरव के लिए अपेक्षित व्याकरण ज्ञान तो प्रायः समस्त संस्कृत साहित्य निर्माताओं के लिए अनिवार्य-सा ही है। तावन्मात्र ज्ञान से उसे वैयाकरण नहीं कहा जा सकता। किन्तु व्याकरण संबन्धी उच्च तत्त्वों, सिद्धान्तों के ज्ञाता तथा उनका व्यवहार में उपयोग करने वाले को ही हमें वैयाकरण पदवी से भूषित करना ठीक होगा। फिर पाणिनि ने, वैयाकरण शब्द की व्युत्पत्ति "तदधीते तद्वेद" के अनुसार, व्याकरण पढ़ने वाले छात्र को भी वैयाकरण क्यों न माना हो। हमारे इस मन्तव्य के अनुसार आचार्य मम्मट अवश्य ही "वैयाकरण" सिद्ध होते हैं। यह बात निम्न तथ्यों पर आधारित है।

१— आचार्य मम्मट ने "संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा"[२] में व्याकरण महाभाष्यकारसंमत जात्यादि पक्ष को प्राथमिकता देकर "जातिरेव" इस मीमांसकाभिमत पक्ष का उसके पश्चात् उल्लेख किया है। इसी प्रकार "विरोध" अलङ्कार के भेदों का प्रदर्शन करते समय "जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैः[३] कह कर आचार्य मम्मट व्याकरणसंमत "शब्दानां चतुष्टयी प्रवृत्तिः" को ही स्वीकार करते हैं अन्यथा मीमांसकों के अथवा नैयायिकों के मत में "विरोध" के "दश" विभाग नहीं हो सकते।

२— अपने एक अन्य ग्रन्थ "शब्दव्यापारविचार" में आचार्य मम्मट ने वैयाकरण-संमत जात्यादिचतुष्टयपक्ष का समर्थन कर "जातिरेव" इस मीमांसक पक्ष का खण्डन किया है।[४]

३— सप्तम उल्लास में पृ. २८४ पर क्लिष्टत्व दोष के पदगतत्व का उदाहरण देते समय कहा है, "अत्रिलोचनसंभूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।" इस पद्यांश में "अत्रिलोचन" से "चन्द्र" इस अर्थ की उपस्थिति एकदम न होकर कुछ

---

१. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ८।
२. का. प्र. सूत्र १०।
३. का. प्र. सूत्र १६७।
४. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ९।

सोच-विचार के उपरान्त होती है। अतः यहाँ क्लिष्टत्व है। किन्तु यदि मम्मट वैयाकरण न होकर नैयायिकों के सिद्धान्तों को मानते तो वे यह उदाहरण नहीं दे सकते थे। नैयायिक "शक्तं पदम्" मानकर समास में शक्ति नहीं मानने वाले हैं और "अत्रिलोचन...." इत्यादि पद समास है। किन्तु वैयाकरणों के सिद्धान्त "सुप्तिङन्तं पदम्" के अनुसार यह सुबन्त "अत्रिलोचन...." इत्यादि "पद" हो सकता है। यही बात पृ. ६७९ पर उद्धृत "भस्मोद्धूलन भद्रमस्तु भवते" इत्यादि पद्य में "सुखालोकोच्छेदिनि" इस सामासिक पद को एक पद मानकर स्पष्ट की है।[1]

४– स्वयं वैयाकरण होने से आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर वैयाकरणों की परिभाषा का प्रयोग किया है – जैसे असंगति अलङ्कार के व्याख्यान के समय पृ. ७१६ पर "अपवादविषयपरिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थितिः" इस परिभाषा का प्रयोग हुआ है तथा "क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना" सू. क्र. १६२ के व्याख्यान में "हेतुरूपक्रियायाः" कहा है, जिसकी व्याख्या में प्रदीपकार ने "वैयाकरणानां मते क्रियैव हेतुः इति क्रियेत्युक्तम्, वस्तुतः कारण-प्रतिषेधेऽपि विभावना" कह कर मम्मट की वैयाकरणसिद्धान्तानुसारिता को स्पष्ट किया है।

५– दशम उल्लास में व्याकरण के प्रत्यय क्यच्, क्यङ्, क्विप् तथा वाक्य, समास, आदि को लेकर मम्मट ने जो उपमा के विविध भेद किये हैं वे भी उनका वैयाकरणत्व सिद्ध करते हैं। आचार्य मम्मट का इस प्रकार व्याकरण के सिद्धान्तों का आदर करना उन पर पड़े प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों के प्रभाव का ही द्योतक है। भट्टोद्भट आदि प्राचीन अलङ्कारशास्त्री वैयाकरण सिद्धान्तों का ही अनुसरण करते थे। नागोजी भट्ट जैसे वैयाकरण टीकाकारों ने का. प्र. की व्याख्या में अपने सिद्धान्तों का (व्याकरण के सिद्धान्तों का) अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है।[2] उक्तलक्षणाक्रान्तत्वात्परिसंख्यैवा तथा "शरत्कालसमुल्लासि..." इत्यादि[3] पद्य की वृत्ति की व्याख्या में — "वैयाकरणनये इवालङ्कारिकैरपि वृत्तावेकार्थीभावाङ्गीकारात्" इ.। उस समय तो "यदेव वैयाकरणानां मतं तदेवालङ्कारिकाणां मतम्" यह नियम माना जाता था।[4] स्वयं आचार्य मम्मट

---

१. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ९।
२. दे. परिसंख्या अलङ्कार की व्याख्या में नागोजी भट्ट :
   नियमोऽप्यत्र दर्शने (अस्मिन्नलङ्कारशास्त्रे)
३. दे. का. प्र. झ., पृ. २८४।
४. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ९।

भी प्रथम उल्लास में[1] "बुधैर्वैयाकरणैः — शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि (आलङ्कारिकैः)" कह कर अलङ्कारशास्त्र पर व्याकरणशास्त्र के प्रभाव को स्वीकार करते हैं।

क्या आचार्य मम्मट केवल या मुख्यतः वैयाकरण ही थे ?

श्री वामनाचार्य झलकीकर, जिन्होंने काव्यप्रकाश का मन्तव्य समझाने में बड़ा परिश्रम किया है, उपरोक्त प्रमाणों का उल्लेख करने के पश्चात् कहते हैं कि आचार्य मम्मट मुख्यतः वैयाकरण थे। इस तथ्य के प्रतिपादन के लिये उन्होंने भट्टिकाव्य का उदाहरण देकर कहा है कि महावैयाकरण भट्टि ने अपने काव्य के चार विभाग, प्रकीर्ण, अधिकार, प्रसन्न और तिङन्त किये हैं। प्रथम विभाग "प्रकीर्ण" में व्याकरणशास्त्र के अनुसार सामान्य विशेष कार्य उदाहरणों द्वारा समझाये हैं। द्वितीय "अधिकार" विभाग में पाणिनि के अष्टाध्यायी के अधिकार के अनुसार कार्यों के उदाहरण दिये हैं तथा तृतीय विभाग "प्रसन्न" में साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा माधुर्यादि गुणों के उदाहरण दिये हैं तथा चौथे "तिङत" विभाग में समस्त लकारों में धातुओं के प्रयोग, जो आज प्रयोगबाह्य भी हो चुके हैं, कर दिखाये हैं। इस महाकाव्य के विषय में भट्टि ने स्वयं २२ वें सर्ग में—

"दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तामर्श इवान्धानां भवेद्व्याकरणादृते ॥[2]

कह कर यह अभिमत प्रगट किया कि साहित्यशास्त्रीय तत्वों की जानकारी के लिए भी व्याकरण की आवश्यकता है। अन्यथा अवैयाकरण को यह महाकाव्य वैसा ही होगा जैसा अन्धे को दीपक। इस महाकाव्य के टीकाकार जयमङ्गल भी इस श्लोक की अवतरणिका में लिखते हैं —

"य एव व्याकरणमधीतवान् तस्यैवात्र काव्ये आदरो युक्त इति दर्शयन्नाह दीपतुल्यः" इति। अतः यह साहित्यशास्त्र व्याकरण का ही पुच्छभूत है, स्वतन्त्र नहीं। अन्यथा, न्यायशास्त्र में जिसका नाम लेकर निषेध किया है तथा मीमांसा में जिसका नाम भी नहीं सुना जाता ऐसी व्यञ्जना आकाश का पुष्प है। फिर उससे प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ तथा व्यञ्जकशब्द दोनों के अभाव में "स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा[3] के द्वारा शब्द का त्रैविध्य, "वाच्य,

---

१. दे. का. प्र. पृ. १९।
२. भ. का. २२–२३।
३. का. प्र. सू. ५।

लक्ष्य, व्यङ्ग्य" ये तीन अर्थ, और अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना ये तीन शब्दशक्तियाँ कैसे प्रतिपादित की जा सकती हैं ? अतः मम्मट को वैयाकरण और साहित्यशास्त्र को व्याकरण का पुच्छभूत ही मानना चाहिये। इस प्रकार श्री वामनाचार्य ने अपनी काव्यप्रकाश की भूमिका में कहा है।[१]

श्री वामनाचार्यजी के इस कथन से हम सहमत होने में असमर्थ हैं। साहित्यशास्त्र तथा काव्य को समझने के लिए जितने व्याकरणज्ञान की आवश्यकता है केवल उसीसे किसी को वैयाकरण कह देना ठीक नहीं होगा। यह बात हम पीछे (पृ. ९ पर) स्पष्ट कर आये हैं। हाँ, साहित्यशास्त्र की प्राणभूत व्यञ्जनावृत्ति, व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यञ्जक शब्द आदि की कल्पना को सहारा देने के लिए तथा 'काव्यप्रकाश' के कुछ स्थलों का अर्थान्वय करने के लिए व्याकरण के उच्च सिद्धान्तों तथा परिभाषाओं की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु तावन्मात्र से काम नहीं चलता। आचार्य मम्मट ने बड़े अध्यवसाय से पाँचवे उल्लास में व्यङ्ग्यार्थ का पृथक्त्व, उसका सौन्दर्य, सरसत्व आदि प्रगट किया है। क्या ये समस्त विशेषताएँ वैयाकरणों के स्फोट के द्वारा सिद्ध हो सकेंगी ? क्या इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ की वैयाकरणों को आवश्यकता है ? क्या वे अभिधा, लक्षणा के समान एक अलग व्यञ्जना वृत्ति का स्वीकार करते हैं ? यदि ये सारी बातें वैयाकरणों ने पूर्व में ही मान रखी हैं तो फिर आचार्य मम्मट "ध्वनिमार्गप्रस्थापक" क्यों कहा जाता है ? "ध्वनि" शब्द का केवल प्रयोग, व्याकरण की कल्पना के अनुसार करने से आगे की सारी विशेषताओं का प्रयोग जो केवल काव्यप्रकाश में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होती हैं, आचार्य मम्मट को क्या कुछ श्रेय नहीं दे सकता ? हमारा तो मन्तव्य है कि मीमांसकों, नैयायिकों तथा वैयाकरणों ने जिस व्यञ्जना, व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यञ्जक शब्द को स्वीकार नहीं किया है उसकी सिद्धि करना तथा वह करते हुए सहृदयों को रसास्वादन का तथा काव्यसौन्दर्य का आनन्दलाभ करा देना ही साहित्यशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है जो अन्य किसी भी दर्शन से साध्य नहीं हो सकता। यह बात 'काव्यप्रकाश' के काव्यप्रयोजन सम्बन्धी तथा काव्यहेतु सम्बन्धी सूत्रों के[२] देखने से समझ में आ सकती है।

आचार्य भट्टि की "दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयम्"[३] यह उक्ति उनके भट्टिकाव्य के विषय में ठीक उतर सकती है। भट्टिकाव्य एक अत्यन्त क्लिष्ट महाकाव्य माना

---

१. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. १०–११।

२. दे. का. प्र. सू. २–३।

३. दे. पृ. ११।

गया है जो कृत्रिम होने पर भी महाकवि कालिदास के तो क्या अपितु 'शिशुपालवध,' 'किरातार्जुनीय' जैसे महाकाव्यों की पंक्ति में भी नहीं बैठ सकता। व्याकरण के सम्पूर्ण ज्ञान के बिना अर्थात् सि. कौमुदी के सम्पूर्ण ज्ञान के बिना उसका अर्थ समझ में नहीं आ सकता। किन्तु इसके ज्ञान के लिए स्फोटवाद, क्रियाप्रधान शाब्दबोध अथवा कर्तृ प्रधान शाब्दबोध, स्वरवैदिकी के स्पष्ट ज्ञान की जानकारी भी कदाचित् ही आवश्यक है। हमें तो ऐसा लगता है कि भट्टि ने अपने दुरूह, क्लिष्ट तथा नीरस काव्य में कुछ रोचकता का निवेश करने के लिए तृतीय विभाग "प्रसन्न" की रचना की है। किन्तु इतना करने पर भी यह महाकाव्यों के इतिहास में एक कड़ी मात्र बनकर रह गया है। इसका पठन-पाठन बहुत कम हो गया है। अतः साहित्यशास्त्र को व्याकरण का पुच्छ मानने से तथा आचार्य मम्मट को केवल वैयाकरण मानने से हम सहमत नहीं हैं।

आचार्य मम्मट एक अच्छे मीमांसक भी हैं :

आचार्य मम्मट ने अपनी व्याकरणशास्त्रपटुता सिद्ध करने के लिए 'काव्यप्रकाश' में जितने प्रसंग उठाये हैं उनसे कई अधिक प्रसंग 'मीमांसाशास्त्र' की पटुता सिद्ध करने के लिए उठाये हैं। उनमें से कुछ प्रसंगों का उल्लेख आगे किया जाता है।

१– 'काव्यप्रकाश'–सूत्र १० में "जातिरेव वा" यह पूर्व मीमांसकों के पक्ष का उल्लेख है। आगे पृ. ३७ पर "हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु ... ...जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये" तक इसी पक्ष की व्याख्या की गयी है।

२– सूत्र.क्र. ७ "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्" इस की व्याख्या करने वाले "आकाङ्क्षायोग्यता ... ...इत्यन्विताभिधानवादिनः।"[1] तक के वृत्तिग्रन्थ में अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों का और अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसकों का संक्षेप से स्वरूप बतलाया गया है। इन्हीं मतों का विस्तार से निरूपण तथा खण्डन पञ्चम उल्लास में पृ. २१९ से २२४ तक किया है। इसे पढ़ने पर ऐसा लगता है कि आचार्य मम्मट अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के अंतरङ्ग तक पहुँच गये हैं और इन वादों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझा रहे हैं। आचार्य मम्मट ने यहाँ पर सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों वाद वाक्यार्थ की ही अभिधेयता सिद्ध करने में असमर्थ रहे हैं फिर व्यङ्ग्यार्थ की अभिधेयता सिद्ध करना तो दूर की बात है।

---

१. दे. का. प्र. झ., पृ. २६–२७।

३– "निमित्तानुसारेण नैमित्तिकानि कल्प्यन्ते"[१] इस मीमांसकैकदेशी के मत की चर्चा तथा इसका निराकरण भी द्रष्टव्य है।

४– "ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव ... ... इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्"[२] यह सम्पूर्ण काव्यप्रकाशग्रन्थ मम्मट के मीमांसाशास्त्रीय पाण्डित्य की दाद देने वाला रहा है। वाक्य में किस अर्थ की विधायकता होती है यह बात व्यावहारिक एवं वैदिक उदाहरणों को लेकर इस प्रघट्टक में समझायी गयी है। इन पंक्तियों के पठनमात्र से मम्मट के मीमांसा ज्ञान का पता लग जाता है।

५– "गौरनुबन्ध्यः" में[३] प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र के उपादानलक्षणावाले मत का आचार्य मम्मट ने खण्डन किया है। यह परिच्छेद भी मम्मट के मीमांसाज्ञान का परिचय देता है।

६– पृ. ४९–५० पर "गौर्वाहीकः" में लक्ष्यार्थ को स्पष्ट करते समय अपने मत की पुष्टि के लिए पूर्वमीमांसकों की सम्मति के रूप में आचार्य मम्मट "अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥" इस भट्टवार्तिक का उदाहरण तथा उसका आंशिक स्पष्टीकरण भी देते हैं।

इन प्रस्तुत उदाहरणों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि आचार्य मम्मट जैसे वैयाकरण थे वैसे ही वे मीमांसाशास्त्र के भी पण्डित थे।

आचार्य मम्मट का वेदान्त आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान :

१– आचार्य मम्मट रसास्वाद का स्वरूप बतलाते हुए उसकी तुलना ब्रह्मास्वाद से करते हैं।[४] यद्यपि यह मत आचार्य अभिनवगुप्त का है ऐसा मम्मट कहते हैं[५] तथापि उनके मत का प्रतिपादन जिस प्रकार से मम्मट ने किया है उससे प्रस्तुत तथ्य की भी जानकारी उन्हें थी यह स्पष्ट होता है।

२– इसी प्रकार पञ्चम उल्लास में वेदान्तियों के "वाक्यार्थ केवल वाच्य ही होता है" इस मत का खण्डन करने के लिए "तैरपि अविद्यापदपतितैः

---

१. का. प्र. झ., पृ. २२४।
२. वही, पृ. २२५ से २३०।
३. का. प्र. झ., पृ. ४४।
४. दे. का. प्र. झ., पृ. ९३।
५. दे. वही, पृ. ९५।

पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैव"[1] ऐसा कह कर वेदान्तदर्शन के सिद्धान्तों से अपना परिचय स्पष्ट किया है।

३– उदाहरण के रूप में उद्धृत ––

"निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥"[2]
"तदप्राप्तिमहादुःख – विलीनाशेषपातका।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा॥[3]
"चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका॥"[4]

ये पद्य आचार्य मम्मट का माया, तत्कार्य प्रपञ्च, मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया आदि से परिचय प्रकट करते हैं।

४– रसनिरूपण के समय रसास्वाद को मितयोगिज्ञान एवं मितेतरयोगिज्ञान से विलक्षण तथा सविकल्प और निर्विकल्प ज्ञान का अविषय मानने के सम्बन्ध में किया हुआ निरूपण[5] आचार्य मम्मट के योगशास्त्रीय सिद्धान्तों से परिचय को सिद्ध करता है। ब्रह्मा की सृष्टि को सुख-दुःख-मोहस्वभाव[6] कहकर सांख्यसिद्धान्त का ज्ञान भी प्रकट किया है।

आचार्य मम्मट का न्यायशास्त्र का ज्ञान :

आचार्य मम्मट ने न्यायशास्त्रीय पदार्थों से तथा प्रक्रिया से अपने परिचय की जानकारी स्पष्ट रूप से अनेक स्थानों पर दी है।

१– मङ्गलपद्य में ब्रह्मा की सृष्टि का वर्णन करते समय परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा (टीकाकार ने असमवायि और निमित्त दोनों को सहकारी कारणों में माना है) "षड्रसा"[7] इत्यादि कहते हुए न्यायशास्त्रीय परमाणुकारणवाद से तथा कारणत्रयवाद से मम्मट ने अपने परिचय को स्पष्ट किया है।

---

१. दे. का. प्र. पृ. २५१,।
२. दे. पृ. १३२, वही।
३. दे. पृ. १५५, वही।
४. दे. पृ. १५६, वही।
५. दे. पृ. ९४, वही।
६. दे. पृ. ५, वही।
७. दे. का. प्र. झ., पृ. ५–६।

२– प. ११ पर "इति हेतुस्तदुद्भवे" सूत्रस्थ हेतु पद की व्याख्या करते समय पृ. १२ पर वृत्तिग्रन्थ में "हेतुर्न तु हेतवः" कहकर मम्मट न्यायशास्त्रीय द्विविध कारणत्व से अपना परिचय व्यक्त करते हैं। न्यायशास्त्र में दण्डचक्रसूत्रादि को घट के प्रति मिलितकारण माना है तथा तृण, अरणि, मणि को दाह के प्रति स्वतन्त्र रूप से कारण माना है।

३– सूत्र २९ "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्" की व्याख्या करते समय वृत्तिग्रन्थ में मम्मट लिखते हैं "प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः। फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा।"[1] यहाँ पर "प्रकटता" शब्द से मीमांसकों के अभिमत "ज्ञातताख्य" विषयधर्म का और "संवित्ति" शब्द से नैयायिकों के अभिमत "अनुव्यवसाय" का उल्लेख किया है। अनुव्यवसाय ज्ञानविषयक ज्ञान को कहते हैं और यह घटादिविषयक ज्ञान से उत्पन्न होता है ऐसा नैयायिक मानते हैं।

४– पञ्चम उल्लास में न्यायाचार्य व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के मत (व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अनुमान से ही होती है) का खण्डन करते समय आचार्य मम्मट न्यायशास्त्रीय व्याप्ति, सद्धेतु, हेत्वाभास, अनुमान का स्वरूप आदि न्यायशास्त्रीय पदार्थों से अपना विशेष परिचय स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं।[2]

५– सूत्र १८२ में अनुमान अलङ्कार की व्याख्या में प्रयुक्त वृत्तिग्रन्थ से भी आचार्य मम्मट का न्यायशास्त्रीय पदार्थों से परिचय स्पष्ट होता है।[3] "असङ्गति" अलङ्कार की व्याख्या में भी यही तथ्य स्पष्ट होता है।[4]

आचार्य मम्मट की बहुमुखी जानकारी :

द्वितीय उल्लास में आचार्य मम्मट ने शब्द, उनके अर्थ तथा उनकी शक्तियाँ इनका जो विवेचन किया है उससे उनके शब्दार्थ सम्बन्धी सूक्ष्म अध्ययन का पता चलता है। व्यङ्ग्यार्थ के पृथक्त्व की सिद्धि करते समय उन्हें अभिधा तथा लक्षणा की मर्यादा की जानकारी अवश्य ही पर्याप्त रही है।

"लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
"न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः॥
"एवमप्यनवस्था स्याद्या मूलक्षयकारिणी॥"

१– दे. का. प्र. पृ. ६१।
२– दे. का. प्र. झ., पृ. २५२ से २५६।
३– दे. वही, पृ. ६९६।
४– दे. वही, पृ. ७१४।

इत्यादि कारिकाओं से आचार्य मम्मट शब्दार्थ की मर्यादाओं से कितने परिचित थे यह स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार सप्तम उल्लास में अविमृष्टविधेयांश दोष का विवेचन करते समय[1] "यत्" शब्द "तत्" शब्द से कब साकाङ्क्ष रहता है कब नहीं रहता आदि की चर्चा विविध उदाहरण देकर बड़े ही अधिकार के साथ की गयी है। कहीं भी "तथा चोक्तम्" कह कर अपने विधान की पुष्टि के लिए अन्य शास्त्रग्रन्थ से प्रमाण उद्धृत नहीं किया गया है। इससे आचार्य मम्मट इस प्रतिपादन में कितने विश्वस्त थे यह स्पष्ट होता है।

आचार्य मम्मट का बहुमुखी व्यावहारिक तथा शास्त्रीय ज्ञान भी काव्य-प्रकाश के अध्ययन से जाना जा सकता है। काव्यहेतुओं का निर्वचन करते समय उन्होंने "लोक" तथा "शास्त्र" का स्वरूप बहुत कुछ विस्तार के साथ दिखाया है।[2] काव्य प्रयोजन के निरूपण में "कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" की व्याख्या करते समय उन्होंने प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और कान्तासम्मित उपदेशों का स्वरूप उदाहरणों के साथ समझाया है।[3] यह भी उनकी बहुमुखी बुद्धिमत्ता का ही परिचायक है। यद्यपि काव्यप्रकाश में नाट्यशास्त्र की चर्चा नहीं की गयी है तथापि भरत के नाट्यशास्त्र से मम्मट का परिचय अवश्य है। भरत का रसनिष्पत्तिसूत्र तथा उसकी मतमतान्तरोल्लेखपूर्व व्याख्या, एवं

"श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चैत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥[4]"

तथा— "रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥[5]"

इन कारिकाओं का भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय से अविकल रूप से उद्धृत करना, यह बातें प्रस्तुत तथ्य को स्पष्ट करती हैं। वंगीय पण्डितों में तो, काव्यप्रकाश के सूत्र (कारिकाएँ) भरतप्रणीत तथा वृत्तिग्रन्थ मम्मटप्रणीत है, ऐसा प्रवाद चला आ रहा है। किन्तु सूत्र तथा वृत्ति दोनों के रचयिता मम्मट

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. ३०५ से ३१७।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. १२,।
३. दे. पृ. ८-१०, वही।
४. दे. पृ. ९८, वही।
५. दे. पृ. १२२, वही।

ही हैं यह बात अनेक प्रमाण देकर श्री वामनाचार्यजी ने सिद्ध की है जिसका स्पष्टीकरण हम योग्य स्थान पर करेंगे ।

सप्तम उल्लास में ख्यातिविरुद्धता तथा विद्याविरुद्धता के उदाहरण देकर उनमें किस प्रकार विरोध आता है इसका विवेचन आचार्य मम्मट ने इस प्रकार से किया है जिससे उनके कविसंसार की प्रसिद्धि[१], धर्मशास्त्रीय प्रसिद्धि[२], अर्थशास्त्रीय प्रसिद्धि[३], कामशास्त्रीय प्रसिद्धि[४] तथा योगशास्त्रीय प्रसिद्धि[५], ऐसी अनेक प्रकार की प्रसिद्धियों के सूक्ष्मज्ञान का पता चलता है ।

६– इसी प्रकार इसी ७ वें उल्लास में अप्रयुक्तता[६], अनुचितार्थता[७], निहतार्थता[८], अवाचकता[९], अश्लीलत्व[१०], आदि के उदाहरणों से पता चलता है कि आचार्य मम्मट को, शब्दों के विविध अर्थों, उनके गौण तथा मुख्य भावों, उनके प्रयोग अप्रयोग आदि अनेक बारीकियों से परिचय था ।

७– इसी सप्तम उल्लास में[११] प्रकृतिविपर्यय का स्वरूप तथा उसके उदाहरण दिये हैं । इनके अवलोकन से आचार्य मम्मट को मानव-समाज के पारस्परिक योग्य सम्बन्धों का तथा मानव-स्वभाव का कितना सूक्ष्म ज्ञान था इसकी जानकारी प्राप्त होती है । काव्यप्रयोजनों में एक "व्यवहार-ज्ञान" भी है । आचार्य मम्मट ने उसे अच्छी तरह से आत्मसात् कर लिया था, यह हम कह सकते हैं ।

आचार्य मम्मट का अन्य साहित्य :

आचार्य मम्मट का अतिप्रसिद्ध काव्यप्रकाश एकमात्र ग्रन्थ ही प्राप्य है । इतने महान पण्डित ने और भी कुछ साहित्य अवश्य ही लिखा होगा । किन्तु वह उपलब्ध नहीं है । हाँ, एक ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध होता है और वह है "शब्द-

---

१. दे. पृ. ३८८, का. प्र. झ. ।
२. दे. पृ. ३९०, वही ।
३. दे. प्र. पृ. ३९१, वही ।
४. का. प्र. झ. पृ. ३९१ ।
५. का. प्र. झ. पृ. ३९२, वही ।
६. का. प्र. झ. पृ. २९८, वही ।
७. का. प्र. झ. पृ. २९९, वही ।
८. का. प्र. झ. पृ. २९८, वही ।
९. का. प्र. झ. पृ. ३००, वही ।
१०. का. प्र. झ. पृ. ३०१, वही ।
११. का. प्र. झ. पृ. ४४१ से ४४५ ।

व्यापारविचार"। श्री वामनाचार्य झलकीकर के अनुसार यह ग्रन्थ पूना के डेक्कन कालेज में उपलब्ध है।[1] किन्तु वे स्वयं महाराष्ट्र के निवासी (कदाचित् पूना के) होकर भी इस ग्रन्थ के विषय में कुछ भी नहीं कहते हैं। म. म. काणे ने लिखा है—"He wrote another work called श. व्या. वि. (Published by Nirnaya Sagar Press). In that work he discusses in greater detail the subject of his 2nd उल्लास *viz* अभिज्ञा and लक्षणा।"[2] इस लेख से केवल यह पता लगता है कि "श. व्या. विचार" यह पुस्तक निर्णय सागर प्रेस में छपी है, तथा उसमें अभिधा और लक्षणा का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है।

हमने डेक्कन कालेज के ग्रन्थपाल से पत्र व्यवहार के द्वारा इस पुस्तक के सम्बन्ध में अधिक जानकारी चाही थी। वह इस प्रकार है। यह पुस्तक ई. स. १९१६ में निर्णयसागर प्रेस में छपी थी। यह मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' के साथ प्रकाशित की गयी थी। इसमें कुल १० पृष्ठ हैं अतः इसे पुस्तक की अपेक्षा 'पुस्तिका' (बुकलेट) कहना ही ठीक होगा। दस पृष्ठों की इस पुस्तिका में अन्तिम दो पृष्ठों में 'व्यञ्जना' का विचार किया गया है। इसकी भूमिका में इस पुस्तिका के मम्मट द्वारा रचित होने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। इससे अधिक इस पुस्तिका के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं है। काव्यप्रकाश जैसे विशाल ग्रन्थ में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदि का विस्तार के साथ विवेचन एवं चर्चा करने के उपरान्त आचार्य मम्मट जैसे विद्वान के द्वारा शब्दव्यापारविचार-जैसी लघुकाय पुस्तिका का रचा जाना, अपने में कोई महत्त्व नहीं रखता है। यह भी संभव है कि काव्यप्रकाश में से ही, किसी मम्मटान्तेवासी ने, संक्षिप्त रूप से, आचार्य मम्मट के शब्दशक्ति के सम्बन्ध में रहे विचारों का संकलन प्रकाशित किया हो, तथा संकलनकर्ता ने इस पुस्तिका पर अपना नाम लिखना ठीक न समझकर आचार्य मम्मट का ही नाम अंकित कर दिया हो। सत्य कुछ भी हो किन्तु काव्यप्रकाश के सामने इस पुस्तिका का कुछ भी महत्त्व नहीं है।

●

१. दे. प्र. पृ. ६, का. प्र. झ.।
२. हि. सं. पो. २६२।

अध्याय – २

काव्यप्रकाश की टीकाएँ, पाण्डुलिपियाँ, संस्करण आदि

काव्य प्रकाश की टीकाएँ : (संस्कृत)

काव्यप्रकाश ग्रन्थ टीकाकारों के विषय में बहुत ही भाग्यवान रहा है। म. म. काणे के अनुसार केवल भगवद्गीता को छोड़कर किसी भी अन्य संस्कृत ग्रन्थ पर इतनी टीकाएँ नहीं हुई हैं।[1] श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार भारत के सभी भागों के लगभग ७० विद्वानों ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं।[2] इतनी टीकाएँ होने पर भी यह ग्रन्थ दुरूह ही रहा है। आचार्य महेश्वर अपनी भावार्थचिन्तामणि नामक काव्यप्रकाश की टीका में लिखते हैं :—

> "काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।
> सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीरः स एतां निपुणं विलोक्यताम् ॥"[3]

आज भी अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओं में इस पर टीकाएँ लिखी जा रही है। श्री वामनाचार्य झलकीकरजी ने अपने समय तक (ई. १९०० के लगभग) ज्ञात तथा अवलोकित टीकाकारों के विषय में विस्तार से लिखा है। उनके समय तक ४६[4] टीकाकारों का पता चला था। किन्तु उनमें से अनेकों की जानकारी केवल नाममात्र से तथा अन्य टीकाग्रन्थों में उल्लेख आने से प्राप्त हुई है। श्री वामनाचार्य ने अपनी बालबोधिनी टीका की भूमिका में उन टीकाकारों की जानकारी विस्तार से दी हैं जिनकी कृतियाँ उन्होंने स्वयं देखी थीं। विशेषकर उनकी भूमिका से ही निम्न जानकारी दी जा रही है।[5]

---

१. दे. हि. सं. पो. पृ. २६३
Except the Bhagvadgita there is hardly any other work in Classical Sanskrit that has so many commentaries on it.

२. दे. सं. सं. का इतिहास पृ. ९६०।

३. हि. सं. पो. पृ. २६४ टिप्पणी से उद्धृत।

४. पृ. १६। का. प्र. झ. भू.

५. दे. वही भू. पृ. २० से ३७।

१– "संकेत" कर्ता माणिक्यचन्द्र :

उपलब्ध टीकाकारों में यह प्राचीन टीकाकार है। इसकी कृति में अन्य टीकाकर्ताओं के नाम नहीं मिलते। केवल "मुकुलभट्ट"[१] और सरस्वतीकण्ठाभरण के रचियता भोजराज का उल्लेख मिलता है। यह बात 'संकेत' कर्ता का प्रथम टीकाकार होना सिद्ध करती है।[२] माणिक्यचन्द्र स्वयं जैनधर्मानुयायी थे तथा इन्होंने 'संकेत' की रचना विक्रम संवत् १२१६ (ई. स. ११६०) में की।[३] तथा इन्हीं अन्तिम पद्यों से पता लगता है कि आचार्य माणिक्यचन्द्र मुनि श्री सागरेन्दु के शिष्य थे। तथा इस टीका की रचना उन्होंने अपने तथा अन्यों के उपयोग के लिए की थी।[४] यह अपनी विद्या के विषय में अत्यन्त अभिमानी थे। नवम उल्लास के आरम्भ में ये अपने संकेत को 'लोकोत्तर' कहते हैं। द्वितीय उल्लास में—'सशब्दार्थशरीरस्य कालंकारव्यवस्थितिः।

यावत्कल्याणमाणिक्यप्रबन्धो न निरीक्ष्यते ॥

लिखकर अपने ग्रन्थ की श्रेष्ठता बतलायी है। इस प्रकार प्रत्येक उल्लास के आरम्भ के पद्य देखने से यही भाव प्रतीत होता है। तथापि 'संकेत' के आरम्भ के और अन्तिम पद्यों के देखने से उनकी नम्रता तथा शालीनता का भी पता लगता है।[५]

अदृष्टदोषान्मतिविभ्रमाच्च यदर्थहीनं लिखितं मयात्र।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं प्रायेण मुह्यन्ति हि ये लिखन्ति ॥

(अन्तिम भाग पद्य १) म. म. अभ्यंकरशास्त्रीजी ने तो "सहृदयाश्च प्रेक्षावन्तो नैतों गर्वोक्ति मन्येरन्" ॥[६] कहकर आचार्य माणिक्यचन्दजी की विद्वत्ता के प्रति आदर ही दर्शाया है।

आचार्य माणिक्यचन्द्र के "संकेत" में विशेषकर दर्शनीय अंशों में से कुछ ये हैं —

(१) लक्षणासूत्र की व्याख्या, पृ. १७।

---

१. दे. यथान्यैर्मुकुलादिभिः इ. पृ. १८।
२. दे. श्रीभोजेन जैमिन्युक्तषट्प्रमाणानि संभवश्चालंकारतयोक्तानि। संकेत, पृ. ३०४।
३. दे. रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्पितः। संकेत पद्य १२।
४. दे. —स्वान्योपकृतये कृतः। संकेत पद्य ११।
५. दे. वैधेयेन विधीयते कथमहो संकेतकृत्साहसम्। प्रारम्भ पद्य २।
६. दे. का. प्र. सं. भूमिका।

(२) "गङ्गायां घोषः" पर की गयी शास्त्रीय चर्चा पृ. २३ ।
(३) "मुखं विकसित." (पृ. २५) तथा "स्निग्धश्यामल." (पृ. ९४) की व्याख्या ।
(४) रसप्रकरण में आये हुए विविध मतों की चर्चा पृ. ४३–४८ ।
(५) रसों के विभाग आदि का निरूपण । पृ. ५९–६० ।
(६) पञ्चमोल्लास में "श्रुतिलिङ्गस्थान." आदि की चर्चा (पृ. ११२) ।
(७) अष्टम तथा नवम उल्लास में गुणों के एवं यमक के स्वकृत उदाहरण । पृ. १९२, २०४ आदि ।

२– "बालचित्तानुरंजनी" कर्ता श्री सरस्वतीतीर्थ

इन्होंने भी अपनी टीका में किसी अन्य टीकाकार का नामोल्लेख नहीं किया है । केवल आठवें उल्लास में–

"राजा भोजोगुणानाह विंशतिं चतुरश्च यान् ।"
"वामनो दश तान् वाग्मी भट्टस्त्रीनेव भामहः ॥"

यह उल्लेख किया है । अतः यह भी प्राचीन टीकाकार ही हैं । इन्होंने अपने देश काल आदि का परिचय ग्रन्थ के आरम्भ में ही विस्तार से दिया है । इसके अनुसार – सरस्वतीतीर्थ के पूर्वज आंध्रप्रदेश के त्रिभुवनगिरि ग्राम के निवासी थे । इनका गोत्र वत्स था तथा इनके कुल में परम्परा से विविधशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त था । इनके कुल में एक मल्लिनाथ ने, (रघुवंश आदि पर टीका लिखने वाले मल्लिनाथ नहीं) जिनकी पत्नी नागम्मा थी, सोमयाग किया था । इन मल्लिनाथ और नागम्मा के दो पुत्र हुए । ज्येष्ठ का नाम नारायण था, जो विद्या और वित्त उभय संपन्न था और कनिष्ठ का नाम नरहरि था । इसका जन्म वि. सं. १२९८ (ई. स. १२४२) में हुआ । इस नरहरि ने काशी में आकर विविध शास्त्रों का अध्ययन किया और संसार की दुःखमयता की भावना से संन्यास ग्रहण कर लिया । संन्यास आश्रम में इनका नाम "सरस्वतीतीर्थ" हो गया । इसी आश्रम में इन्होंने "बालचित्तानुरञ्जनी" नाम की काव्यप्रकाश की टीका का निर्माण किया ।[१] इनके रचित अन्य ग्रन्थ हैं –

१– स्मृतिदर्पण (धर्मशास्त्र) । का. प्र. की टीका में आत्मपरिचय के लिये उद्धृत पद्य ही प्रायः इस ग्रन्थ की भूमिका में दिये हैं ।

२– "तर्करत्न" तथा उसकी टीका–

३– तर्करत्नदीपिका ।

१. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. २३–२४ पर उद्धृत पद्य ।

क्योंकि काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास की "श्रुतिलिङ्गा–" दि पङ्क्ति की टीका में उन्होंने लिखा है –

"श्रुतिलिङ्गादीनां लक्षणानि अस्माभिस्तर्करत्नप्रकरणे प्रदर्शितानि ।

एतेषामुदाहरणानि तर्करत्नदीपिकायां प्रदर्शितानि ।"

३– "दीपिका" कर्ता जयन्तभट्ट :

इन्होंने अपनी टीका में केवल "मुकुलभट्ट" का ही निर्देश किया है। इनका जन्मादि परिचय स्वकृत टीका के अन्त में मिलता है। इसके अनुसार – गुर्जरदेशाधिपति राजा श्री सारङ्गदेवकल्याणविजय के अमात्य भरद्वाज पुरोहित थे। वे साहित्य-पुराण-दर्शन श्रुति-स्मृति आदि विद्याओं में पारङ्गत थे तथा राजा से अच्छा सम्मान प्राप्त करते थे। उनके पुत्र श्री जयन्तभट्ट पुरोहित थे। विद्वानों के मन पर विद्यमान अज्ञानतमःपटल को हटाने के लिये उन्होंने इस काव्यप्रकाश-दीपिका का, संवत १३५० ज्येष्ठ व. ३ (ई. स. १२९४) में निर्माण किया।[1]

४– "संकेत" अथवा "काव्यादर्श" कर्ता श्री सोमेश्वर :

इनकी टीका में भी किसी अन्य टीकाकार का नामोल्लेख नहीं प्राप्त होता है। केवल भट्टनायक-मुकुल-भट्टतौत-रुद्रट-भामह जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थकारों के ही नाम मिलते हैं। इनका जीवनवृत्त भी उपलब्ध नहीं है। वैसे तो सोमेश्वर नाम वाले अनेक मीमांसक और नैयायिक संस्कृत साहित्य के इतिहास में मिलते हैं। इनमें से कुछ १३–१४ शताब्दी के भी हैं। किन्तु प्रस्तुत टीकाकार सोमेश्वर उनमें से कौन-से हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। श्री वामनाचार्य इन्हें कान्यकुब्ज देशवासी मानते हैं क्योंकि उन्होंने (सोमेश्वर ने) का. प्र. के सप्तम उल्लास की "एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबन्धव्यम् ।"[2] इस पंक्ति की व्याख्या में, उचित देश वेष आदि के उदाहरण देते समय "यथा कान्यकुब्जदेशे उद्धतो वेषो दारुणो व्यवहारो भयंकर आकारः परुषं वचनमनुचितम्, म्लेच्छेषु तदेवोचितम् ।" इस प्रकार कान्यकुब्ज का उदाहरण दिया है। यह देखा भी गया है कि ग्रन्थकार उदाहरण के रूप में अपने देश के पदार्थों का ही उल्लेख करते हैं। इसी कारण से नागोजी भट्ट ने "भूयो भूयः"[3] इ. पद्य की

---

१. दे. श्रीमद्भरद्वाजपदाम्बुजीयप्रसादतो ग्रन्थरहस्यमेतत् । विज्ञाय किञ्चित् कृतवान् जयन्तस्तत्र प्रमाणं सुधियां वितर्कः ॥ का. प्र. दीपिका का अन्तिम पद्य ।

२. का. प्र. झ. भू. पृ. २५ ।

३. का. प्र. झ. भू. पृ. २५ ।

व्याख्या में "वलभी" का अर्थ "छज्जा इति प्रसिद्धम्" इस प्रकार हिन्दुस्तानी भाषा में दिया है। "तुला" शब्द का अर्थ[१] "कांटा" किया है। अमरकोश के टीकाकार महेश्वर ने "पर्कटी" शब्द का अर्थ "अयं गोमंतकभाषायां 'केळा' इति ख्यातस्य" ऐसा दिया है। महेश्वर गोमंतक के निवासी थे, यह बात उनके काव्यप्रकाश की टीका के उपोद्घात में लिखित "गोमान्तकप्रान्तजुषा श्रीमहेश्वर-शर्मणा" इस पंक्ति से ही सिद्ध होती है। आचार्य झलकीकर की इस युक्ति में यद्यपि तर्कसंगति नहीं है तथापि जब तक प्रबल विरोधी प्रमाण नहीं मिलता तब तक इसे स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं है। इन आचार्य सोमेश्वर ने अपनी टीका के अन्त में केवल—

"भरद्वाजकुलोत्तंस-भट्टदेवकसूनुना।
सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा॥"

इतना ही लिखा है, जिससे इनके वंश भरद्वाज का तथा पिता भट्टदेवक का पता चलता है। आचार्य सोमेश्वर का प्राचीन टीकाकारों में समावेश केवल इसलिए किया गया है, क्योंकि उन्होंने अपनी टीका में अन्य किसी भी टीकाकार के नाम का उल्लेख नहीं किया है। म. म. काणे के अनुसार इस "काव्यादर्श" की एक पाण्डुलिपि भाऊदाजी के संग्रह में है और यह पाण्डुलिपि संवत् १२८३ की एक अन्य पाण्डुलिपि से उतारी है। अतः इस टीका का समय १२२५ ई. से प्राचीन नहीं है।[२]

५– "काव्यप्रकाशदर्पण" कर्ता श्री विश्वनाथ :

आचार्य विश्वनाथ अपनी "काव्यप्रकाशदर्पण" टीका में काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में चण्डीदास, वाचस्पतिमिश्र, श्रीधर आदि के नामों का उल्लेख करते है। इन्होंने "साहित्य-दर्पण" की भी रचना की है। इसका उल्लेख इन्होंने काव्यप्रकाश की टीका में द्वितीय उल्लास में लक्षणा के निरूपण के समय किया है।[३] साहित्य-दर्पण की समाप्ति में आपने लिखा है "श्रीचन्द्रशेखर-महाकवि-चन्द्रसूनु-श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्। इ." जिससे इनके पिता का नाम श्री चन्द्रशेखर महाकवि था यह प्रतीत होता है। इनके पितामह (दादा)

१. का. प्र. झ. भू. पृ. २५।
२. हि. सं. पो. पृ. ३८८।
३. दे. "एषां च षोडशानां लक्षणाभेदानामिह दर्शितान्युदाहरणानि मम साहित्य-दर्पणेऽवगन्तव्यानि।" का. प्र. दर्पण।

थे नारायणदास ।[1] काव्यप्रकाश के अन्यतम टीकाकार श्री चण्डीदास इनके पितामह के छोटे भाई थे ।[2] विश्वनाथ के नाम के साथ कविराज, महापात्र, तथा सान्धिविग्रहिक ये उपाधियां लगायी जाती हैं। कलिङ्गराजाओं के दरबार में इनके पूर्वपुरुष सान्धिविग्रहिक पद के अधिकारी रहे थे। अतः इनके नाम के पूर्व में भी इस उपाधि को लगाया गया है । "महापात्र" भी इसी प्रकार का एक अलंकार है। "सन्धिविग्रहे नियुक्तः" इस अर्थ में "तत्र नियुक्तः" पा. सूत्र ४।४।६९ से ठक् प्रत्यय के साथ "सान्धिविग्रहिक" रूप बनता है। यह उपाधि राजतरङ्गिणी में सुप्रसिद्ध है। कुछ विद्वान "महापात्र" का अर्थ ब्राह्मण करते हैं। कुछ इसे संज्ञा मानते हैं।[3] "कविराज" उपाधि "महाकवि", अर्थ की है। काव्यप्रकाशदर्पण में विश्वनाथ के "संगीतविद्याविद्याधर", "कलाविद्यामालतीमधुकर" और "विविधविद्यार्णवकर्णधार" ये तीन विशेषण और मिलते हैं। इनके लिखे ग्रन्थ हैं–

१– राघवविलास-महाकाव्यम् ।

२– प्रभावतीनाटिका ।

३– कुवलयाश्वचरित–प्राकृतमहाकाव्यम् ।

४– चन्द्रकला नाटिका ।

५– षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ।

६– साहित्यदर्पण ।

७– नरसिंहविजयम् ।

८– काव्यप्रकाशदर्पण ।

विश्वनाथ का समय निम्न प्रमाणों से ज्ञात होता है। सा. दर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में विश्वनाथ ने अलाउद्दीन राजा का स्मरण किया है।[4] इस अलाउद्दीन खिलजी (दिल्लीपति) का वध ई. स. १३१६ में उसे विष देकर किया गया था ऐसी प्रसिद्धि है। सा. दर्पण के पृ. १७ पर जयन्त का स्मरण किया गया है।[5]

---

१. दे. यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डला........कविपण्डितास्मत्पितामहश्रीनारायणदासपादाः।" का. प्र. दर्पण रसप्रकरण।

२. दे. "इहास्मत्पितामहानुज....चण्डीदासपादैरुक्तम्।" का. प्र. दर्पण-रसप्रकरण।

३. दे. सा. द. भू. पृ. ६१

४. दे. अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः। सा. द.

५. दे. अत्र यज्जयन्तेनोक्तं विभावनाविशेषोक्त्योः परिपूर्णलक्षणाभावान्न तन्मूलः संदेहसंकरः"। सा. द. ग. पुस्तके पृ. १७।

यह जयन्तभट्ट ई. स. १२९४ का है।[1] अतः विश्वनाथ का समय इन दोनों के बाद का ठहरता है।[2]

डॉ. स्टीन्स के "केटलाग आफ मेन्युस्क्रिप्ट्स् एट जम्मू" के "अलंकार-शास्त्र" शीर्षक के अन्तर्गत पृष्ठ ६४ पर जम्मू में रखी सा. दर्पण की एक पाण्डुलिपि का, जिस पर वि. सं. १४४० (ई. स. १३८४) का समय अंकित है, उल्लेख किया है। अतः विश्वनाथ का समय (अलाउद्दीन खिलजी को समकालीन मान लेने पर भी) ई. स. १३०० से १३८४ के मध्य का निश्चित किया जा सकता है।[3]

६-- "विस्तारिका" के रचयिता परमानन्दचक्रवर्ती भट्टाचार्य :

इन्होंने अपनी टीका में "इति मिश्राः" से सुबुद्धिमिश्र, इति दीपिकाकृतः से "दीपिका" के रचियता जयन्तभट्ट, "यच्चोक्तं विश्वनाथेन" से "काव्यप्रकाश-दर्पण" के रचियता विश्वनाथ आदि पण्डितों का उल्लेख किया है। इनका नाम 'भट्टाचार्य' होने से ये बंगवासी होंगे। जिन–जिन व्यक्तियों का नाम 'भट्टाचार्य' से युक्त है वे समस्त बंगवासी ही ठहरे हैं। बङ्गदेश में ही पण्डितों को भट्टाचार्य कहा जाता है। एक किंवदन्ती भी इस अर्थ की है जिसके अनुसार न्यायशास्त्र की परीक्षा देकर काव्यप्रकाश के टीकाकर्ताओं ने 'भट्टाचार्य की उपाधि प्राप्त कर ली थी। यह चक्रवर्ती महाशय एक बड़े नैयायिक थे। गङ्गेशोपाध्यायविरचित "चिन्तामणि" पर इनका लक्षणगादाधरीग्रन्थ "चक्रवर्ति-लक्षणम्" नाम से प्राप्त होता है। काव्यप्रकाश के सातवें उल्लास पर लिखी अपनी टीका में वे लिखते भी हैं ––

"अन्धा दोषान्धकारेषु के वा न स्युर्विपश्चितः।
नाहन्तु दृष्टिविकलो धृतचिन्तामणिः सदा॥"

आचार्य झलकीकरजी इन्हें केवल नैयायिक ही मानते हैं, वैयाकरण नहीं, क्योंकि उन्होंने अपनी टीका में (५७७ पृ. १७ पं. पर) "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य." इत्यादि कात्यायनीय वार्तिक को पाणिनिसूत्र कहकर बड़ी भूल की है।[4] इनका

१. दे. पृ. २३।
२. दे. भा. सा. शा. उपा. पृ. १४।
३. दे. हि. सं. पो. पृ. २८६।
४. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. २७।

समय दर्पणकार विश्वनाथ के पश्चात् (१३७४ ई.) का मानना चाहिये। म. म. काणे के अनुसार इनका समय १४००–१५०० ई. है।[1]

७– 'सारसमुच्चय' तथा 'निदर्शना' के रचयिता 'आनन्दकवि' :

आनन्दकवि ने अपनी टीका में दसवें उल्लास में 'मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि संभवति' इस पङ्क्ति की व्याख्या करते समय[2] विस्तारिकाकृता विवृतम् कहकर "विस्तारिका" टीका के रचयिता चक्रवर्ती भट्टाचार्य का ही निर्देश किया है। यह आनन्दकवि काश्मीर के निवासी थे, शैव आगम के जानकार एवं स्वयं शैव थे। इसीलिए इन्होंने टीका के आरम्भ में 'शारदादेवी' को प्रणाम किया है तथा आचार्य मम्मट की जानकारी देते समय उसे 'षट्त्रिंशत्तत्वदीक्षाक्षपितमलपटल:, प्रकटितसत्स्वरूपश्चिदानन्दघन:' ,— इत्यादि कहा है तथा शिवागम में प्रसिद्ध ३६ तत्वों का प्रदर्शन करते हुए काव्यप्रकाश की व्याख्या की है। इन्हें भी 'राजानक' अलङ्कार प्राप्त था।[3] इनका समय चक्रवर्ती भट्टाचार्य के आसपास ही हो सकता है। म. म. काणे के अनुसार इस टीका की रचना १६६५ ई. में हुई है।[4]

८– 'सारबोधिनी' के रचयिता श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य :

इन्होंने अपनी टीका में मिश्र, विद्यासागर, भास्कर, जयराम तथा प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्यानाथ इन पाँच टीकाकारों के नाम दिये हैं। इनमें से काव्यप्रकाश की शैली पर प्रतापरुद्रयशोभूषण लिखने वाले विद्यानाथ आन्ध्र प्रान्तीय 'एकशिला' के राजा प्रतापरुद्रदेव वीरभद्र (१२९५–१३२३ ई.) के आश्रित तथा दक्षिण भारत के निवासी कवि थे। इनका समय १३–१४ शताब्दी है।[5] तथा रसगङ्गाधरकार जगन्नाथ पण्डित ने रसगङ्गाधर में 'इति श्री वत्सलाञ्छनोक्तमुदाहरणं परास्तम्।' इस प्रकार इनका उल्लेख किया है। अतः इनका समय १४ वीं से १६ वीं शताब्दी माना जा सकता है।[6] इन्होंने अपनी टीका में 'इत्यन्ये, इति केचित्' इत्यादि लिखकर अनेक मतमतान्तरों का उल्लेख किया है तथा अपनी 'सारबोधिनी' की रचना, चक्रवर्ती भट्टाचार्य की

१. दे. हि. सं. पो. पृ. ३९८।
२. पृ. ६५१। का. प्र. झ.।
३. दे. सा. द. भू. पृ. ७४।
४. दे. हि. सं. पो. पृ. ३९०।
५. दे. सं. सा. इ. गैरोला पृ. ९६५।
६. दे. हि. सं. पो. पृ. ३९७।

"विस्तारिका" का, स्थान-स्थान पर संक्षेप तथा विस्तार करके की है। श्रीं वामनाचार्य के मत में यह केवल नैयायिक थे, वैयाकरण नहीं, क्योंकि इन्होंने भी 'इवेन नित्यं समासो विभक्त्यलोपश्च" इस वार्तिक का उल्लेख अपनी टीका के पृष्ठ ५५७ पर 'अनेन सूत्रेण' ऐसा किया है।

९– "काव्यप्रदीप' के रचियता श्री गोबिन्द ठक्कुर—

इनकी टीका में केवल भास्करभट्ट तथा चण्डीदास भट्टाचार्य दोनों के नामोल्लेख मिलते हैं। इन्होंने "उदाहरणदीपिका" तथा कुछ काव्यग्रन्थ लिखे हैं। गोविन्द ठक्कर ने अपनी टीका के प्रारम्भ तथा समाप्ति में अपने विषय में बहुत कुछ लिखा है। उससे पता चलता है कि केशवठक्कुर की दो पत्नियाँ थी। प्रथम का नाम सीतादेवी था जिसके ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दठक्कुर थे। द्वितीय पत्नी (जिसका नाम नहीं दिया है) से केशव को रुचिकर ठक्कुर पुत्र हुए। गोविन्द और रुचिकर आपस में सौतेले भाई थे और आयु में रुचिकर बड़े थे। गोविन्दठक्कुर के दो अन्य सगे भाई थे जिनके नाम गोनूठक्कुर और श्रीहर्ष ठक्कुर थे। श्रीहर्ष का निधन हो जाने से गोविन्दठक्कुर बहुत दुःखी होकर कहते हैं :—

> "श्रीहर्षे त्रिदिवं गते मयि मनोहीने च कः शोघयेत्।
> अत्राशुद्धमहो महत्सु विधिना भारोऽयमारोपितः।"

अपने ग्रन्थ के विषय में वे लिखते हैं :—

> "परिशीलयन्तु सन्तो मनसा सन्तोषशीलेन।
> इममद्भुतं प्रदीपं प्रकाशमपि यः प्रकाशयति॥"

निश्चित ही गोविन्द के भ्राता श्रीहर्ष नैषधीयचरित के निर्माता श्रीहर्ष से अन्य थे। नैषध में श्रीहर्ष ने अपने माता-पिता के नाम मामल्लदेवी और श्रीहीर दिये हैं।[1]

किन्तु इस श्रीहर्ष के पिता का नाम केशव है तथैव स्वयं प्रदीपकार ने अपनी टीका में "इति नैषधदर्शनात्"[2] ऐसा उल्लेख किया है, "मद्भ्रातुः काव्यदर्शनात्" ऐसा नहीं। इन श्रीहर्ष ठक्कुर ने कुछ ग्रन्थरचना अवश्य ही की है,

---

१. दे. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥
(नै. सर्ग १ अन्तिम पद्य)

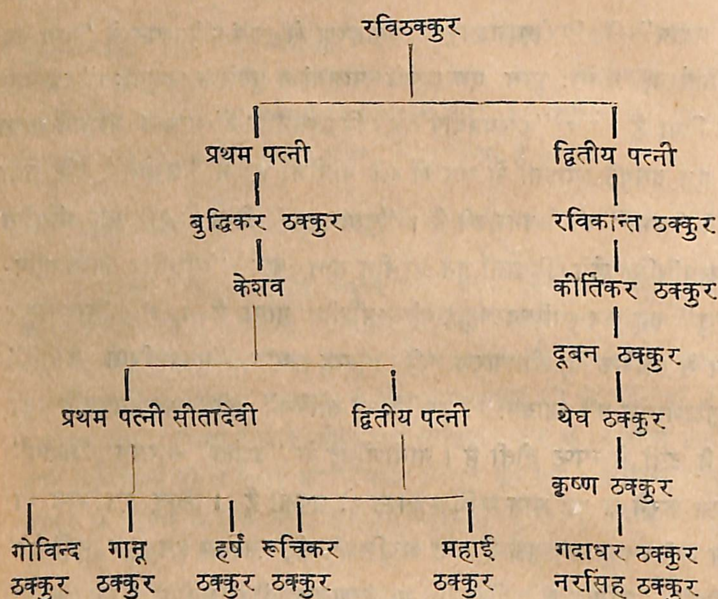
२. देखिये प्रदीप विशेषोक्त्यलङ्कार।

क्योंकि "प्रदीप" में विरोधालङ्कार के उदाहरण में स्वयं प्रदीपकार ने "यथा मद्-भ्रातुः श्रीहर्षस्य, सर्वतः पुरत एव दृश्यते पात्रतां न पुनरेति चक्षुषोः।" इत्यादि उदाहरण दिया है। इस "काव्यप्रदीप" को विद्वत्समाज में अत्यन्त सम्मान प्राप्त है। अत एव इसकी व्याख्या के रूप में श्री नागोजी भट्ट ने "उद्योत" की, तथा वैद्यनाथ ने "प्रभा" की रचना की है। "सुधासागर" टीका के रचियता भीमसेन ने श्रीवाचस्पतिमिश्रजैसे विद्वानों को प्राचीन मान कर "आधुनिक-काव्यप्रदीप-कारादयस्तु" कह कर गोविन्दठक्कुर को अर्वाचीन माना है। श्रीगोविन्दठक्कुर प्रमुख रूप से तार्किक थे, वैयाकरण नहीं। यह बात "मुख्यार्थबाधे तद्योगे" इत्यादि लक्षणासूत्र की व्याख्या में उन्होंने जो तार्किकों की व्याख्यानपद्धति को अपनाया है उसी से स्पष्ट होती है। नागोजीभट्ट के "उद्योत" के साथ "प्रदीप" का अध्ययन करने से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकती है। किन्तु इस बात का विस्तार से विवेचन अनावश्यक है तथा अरुचिकर भी, इसलिए हम वह नहीं देते हैं। "प्रदीप" रचयिता ने कहीं-कहीं व्याकरणलक्षणहीन प्रयोग करके अपना अवैयाकरणत्व प्रदर्शित किया है। जैसे :—

१– काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में "न्यूनपदत्व" का उदाहरण देते समय "अन्यारादितरर्ते.–" इत्यादि सूत्र के अनुसार "खिन्ने इत्यस्मात्पूर्वम्" ऐसा प्रयोग किया जाना चाहिये था, किन्तु किया गया है "खिन्ने इत्यस्य पूर्वम्।" इसी प्रकार :–

२– च्युतसंस्कृति के उदाहरण में "आशिषि नाथः" इस वार्तिक से आत्मनेपद का विधान न मान कर सूत्र से माना है। वस्तुतः सूत्र कर्मणि शेषे षष्ठी का विधान करने वाला है। वह आत्मनेपद का विधान नहीं करता है।

काव्यमालासंग्रहकार पण्डित दुर्गाप्रसादजी ने गोविन्दठक्कुर का सम्पूर्ण वंशविस्तार तथा जीवनवृत्त का संग्रह करके उसे प्रसिद्ध किया है। उसके अनुसार श्रीगोविन्दठक्कुर के मूलपुरुष मिथिला मण्डल के भटसीमरि गाँव के श्री रविठक्कुर थे। उनकी दो पत्नियाँ थी उनका वंशवृक्ष इस प्रकार है—



इस नरसिंह ठक्कुर ने १६६८ वि. सं. (१६१२ ई.) में कमलाकरभट्ट रचित निर्णयसिन्धु की आलोचना की है। अतः इस नरसिंह ठक्कुर का समय सत्रहवीं शताब्दी माना जा सकता है। ये नरसिंह ठक्कुर श्रीगोविन्द ठक्कुर से पांचवी पीढ़ी में आते हैं।[१] कमलाकरभट्टप्रणीत काव्यप्रकाश की टीका में प्रदीपकार का नामोल्लेख आया है। कमलाकरभट्ट ने निर्णयसिन्धु की रचना १६१२ ई. में की थी। अतः श्रीगोविन्द ठक्कुर का समय ईसा की १६ वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। म. म. काणे के अनुसार इनका समय १४००-१५५० ई. के मध्य में पड़ता है।[२]

१०– "आदर्श" के रचयिता श्री महेश्वरभट्टाचार्य :

इनकी टीका में परमानन्द चक्रवर्तिभट्टाचार्यजी का[३] ही नामोल्लेख मिलता है। यह "आदर्श" कोई उत्तम टीका नहीं हैं (ऐसा वामनाचार्यजी का मत है।) महेश्वरभट्टाचार्य अपनी टीका के ५५७ पृष्ठ पर "इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च" इस वार्तिक का उल्लेख "इदं पाणिनिसूत्रम्" करते हैं। इससे इनके अवैयाकरण

१. दे. वंशवृक्ष।
२. दे. हि. सं. पो. पृ. ३८९।
३. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. २९।

होने का पता चलता है। इन्होंने अपनी टीका की समाप्ति में अत्यन्त अल्प निवेदन किया है।[1] इससे इनके स्थान एवं काल के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। तथापि "तात्पर्यविवरणकार" श्री महेशचन्द्र शर्माजी ने श्री वामनाचार्य झलकीकरजी को, कालिकाता संस्कृत कालेज से, दिनांक २-१२-१८८२ ई. को भेजे हुए पत्र से निम्नलिखित मन्तव्य प्राप्त होता है। "काव्यप्रकाश की टीका "आदर्श" के रचयिता श्री महेश्वर विक्रम संवत् की १६ वी शती के अन्त में और १७ वी के आरम्भ में (तद्नुसार १६ वी शती ई. के उत्तरार्द्ध में) वङ्गप्रदेश में विद्यमान थे। उन्हें न्यायालंकार की उपाधि प्राप्त थी। उन्होंने वङ्गप्रदेश में उपयुक्त "दायभाग" (धर्मशास्त्रग्रन्थ) पर टीका की थी। इनका स्थितिकाल दर्पणकार विश्वनाथ और "उदाहरणचन्द्रिका" के रचयिता वैद्यनाथ के मध्य में सिद्ध होता है। यह बात "उदाहरणचन्द्रिका" से ही स्पष्ट होती है। वैद्यनाथ ने उदाहरणचन्द्रिका में अनेक स्थलों पर महेश्वर का उल्लेख किया है तथा उनके "आदर्श" के अनेक अंशों का संक्षिप्त अथवा अविकल उद्धरण देकर, खण्डन किया है। इनके "आदर्श" का दूसरा नाम "भावार्थचिन्तामणि" भी है।[2] इसका समय १७ वी शती के मध्य से पूर्व का माना जा सकता है।[3]

११– कमलाकरभट्ट :

इन्होंने अपनी काव्यप्रकाश की टीका में चण्डीदास, मधुमतीकार, रविभट्टाचार्य, सरस्वतीतीर्थ, पद्मनाभ, सोमेश्वर, परमानन्दचक्रवर्त्ती, देवनाथ, श्रीवत्सलाञ्छन, प्रदीपकार आदि काव्यप्रकाश के टीकाकारों के नाम उल्लिखित किये हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थकार के रूप में केवल भोजराज और अप्पयदीक्षित के ही नामों का उल्लेख मिलता है। यह कमलाकरजी भट्ट उपनाम के तथा वाराणसी में निवास करने वाले थे एवं श्रीवामनाचार्य झलकीकरजी के व्याकरणशास्त्र के गुरू पं. सखाराम भट्ट के पूर्वज (वृद्धपितामह) थे। का. प्र. झ. भूमिका पृ. ३० पर दी हुई टिप्पणी के अनुसार कमलाकरभट्ट सखारामभट्ट की पाँचवी पीढ़ी के थे। ये आश्वलायन शाखीय विश्वामित्रगोत्री महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। ये मीमांसा, धर्मशास्त्र, श्रौत-स्मार्त कर्मकाण्ड, तथा वेदान्तदर्शन के ज्ञाता तथा इन विषयों पर अनेक ग्रन्थों के रचनाकार थे। ये सारी बातें स्वयं कमलाकरभट्ट ने अपनी

---

१. दे. काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते, धीरः स एतां विपुलं विलोक्यताम्॥
आदर्श टीका का अन्तिम श्लोक।

२. दे. हि. सं. पो. पृ. ४०६।

३. दे. वही।

काव्यप्रकाश की टीका की समाप्ति में ही कही है। अपने स्थितिकाल के विषय में भी कमलाकर भट्ट ने स्वरचित निर्णयसिन्धु की समाप्ति में लिखा है --

वसु (८) ऋतु (६) ऋतु (६) भू (१) मिते गतेऽब्दे
नरपति-विक्रमतोऽथ याति रौद्रे ।
तपसि शिवतिथौ समापितोऽयं
रघुपतिपादसरोरुहेऽर्पितश्च ॥१॥

अर्थात् इनका स्थितिकाल वि. सं. १६६८ (ई.१६१२) माघ वद्य त्रयोदशी (महाशिवरात्रि) का रहा है। इन्होंने अपनी टीका को कोई विशेष संज्ञा नहीं दी हैं। इसकी उपादेयता के विषय में ये केवल इतना ही लिखते हैं --

"काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि ।
ताभ्यस्त्वस्या विशेषो यः पण्डितैः सोऽवधार्यताम् ॥"[1]

१२- 'नरसिंहमनीषा' – रचयिता श्री नरसिंह ठक्कुर :

इनकी टीका में काव्यप्रकाश के इन टीकाकारों के नाम उल्लिखित हैं – चण्डीदास, लाटभास्करमिश्र, सुबुद्धिमिश्र, मधुमतीकार, रविभट्टाचार्य, कौमुदीकार, आलोककार यशोधरोपाध्याय, मणिसार, रुचिकरमिश्र, परमानन्दचक्रवर्ती, प्रदीपकार आदि। श्री वामनाचार्यजी इन नरसिंह ठक्कुर को प्रदीपकार के वंशज ही मानते हैं। इसके लिये उन्होंने ये तर्क दिये हैं।

१- दोनों के उपनाम ठक्कुर हैं।

२- जब भी उन्होंने सुबुद्धिमिश्र का अथवा परमानन्दचक्रवती का मतखण्डन किया है, तब --

'इति सुबुद्धेः कौबुद्ध्यमपास्तम्', 'इति परमानन्दप्रलपितमपास्तम्' इस प्रकार तुच्छता की भावना का प्रदर्शन किया है, किन्तु अपने विरुद्ध जाने वाले भी प्रदीपकार के मत का खण्डन नहीं किया हैं। केवल इतना लिखकर अपना मतभेद प्रकट किया है कि "इति प्रदीपकाराः वदन्ति, वयं तु वदामः।"

३- जहाँ कहीं प्रदीपकार का लेखन अपने मत के अनुकूल मिलता है – तब वे "इति प्रदीपकृत्पवित्रीकृतः पन्थाः।" लिखकर उनके विषय में आदर ही बतलाते हैं। (इस विषय में पृ. ३० पर दिया हुआ वंशवृक्ष भी देखा जाय)।

यह नरसिंह ठक्कुर कमलाकर भट्ट के बाद ही हो सकते हैं, क्योंकि उन्होंने "अभेदावगमश्च प्रयोजनम्"।[2] इस पङ्क्ति की व्याख्या में कमलाकरभट्ट

१. दे. हि. सं. पो. पृ. २६३।
२. का. प्र. झ. पृ. ५२।

का "सारोपायां धर्मयोः साध्यवसानायां धर्मिणोर्धर्मयोश्चाभेदप्रतीतिः प्रयोजनम् ।" इस ग्रन्थ को अपने मतसमर्थनार्थ उद्धृत करते हुए "इति नवीनाः" कहा है। इनका समय म. म. काणे के अनुसार १६२० से १७०० ई. के मध्य का है।[1]

इन नरसिंह महामहोपाध्याय ने किसी काव्य की रचना भी की होगी। काव्य-प्रकाश की टीका में उन्होंने पृ. ११२ पर निर्वेदादि भावों की व्याख्या करते समय "विभ्रम" के उदाहरण के रूप में अपना पद्य ही उद्धृत किया है। यह न्यायशास्त्र के असाधारण ज्ञाता थे। "सुधासागर" रचयिता भीमसेन ने इन्हें "न्यायविद्यावागीशनरसिंहठक्कुराः" कहा है। अपने पाण्डित्य के विषय में भी उन्होंने स्वयं सातवें उल्लास के आरम्भ में —

"दोषप्रदानपटवो बहवोऽपि धूर्ता
मूका भवन्ति कठिने सरले प्रगल्भाः
मातर्भवानि करवाणि ततोऽत्र काकुं ।
मा कुण्ठितोऽस्तु मयि ते करुणाकटाक्षः ॥"

इस प्रकार उल्लेख किया है। इनकी लेखन-शैली से भी इनकी नैयायिकता का दर्शन होता है। यह "नरसिंहमनीषा" केवल सप्तम उल्लास के पददोष की व्याख्या तक ही उपलब्ध होती है।

१३– "उदाहरणचन्द्रिका" – रचयिता वैद्यनाथ :

वैद्यनाथ ने अपनी टीका में चण्डीदास, सुबुद्धिमित्र, "दीपिकाकार" शब्द से "उदाहरणदीपिका" रचयिता गोविन्द ठक्कुर[2] का ही निर्देश किया है, दीपिकाकार जयन्त भट्ट[3] का नहीं। क्योंकि "उदाहरणचन्द्रिका" में दीपिकाकार के नाम से जिस मत का उपपादन किया है वह जयन्तभट्ट की "दीपिका" में उपलब्ध नहीं होता है। उदाहरणदीपिका और "उदाहरणचन्द्रिका" ये दोनों टीकाएँ काव्यप्रकाश के उदाहरणों की व्याख्या के लिए प्रवृत्त हुई हैं। अतः उदाहरणचन्द्रिका में दूषणार्थ अथवा भूषणार्थ यदि उद्धरण देना हैं तो वे "उदाहरणदीपिका" से ही दिये जाने उचित हैं। इसी प्रकार इस उ. चं. में उल्लिखित महेश शब्द से महेश्वरभट्टाचार्य का[4] ग्रहण किया जाना ही उचित है,

१. दे. हि. सं. पो. पृ. ३९० ।
२. दे. टीकाकार क्र. ९ ।
३. दे. वही क्र. ३ ।
४. दे. टीकाकार क्र. १० ।

क्योंकि "इति महेशः" ऐसा कहकर वैद्यानाथ ने जिस ग्रन्थ का उद्धरण दिया है वह ग्रन्थ महेश्वरभट्ट के "आदर्श" में ही उपलब्ध होता है। (इस सम्बन्ध में क्र. १० भी देखा जाय)

इन वैद्यनाथजी ने काव्यप्रकाश के "प्रदीप" पर "प्रभा" तथा "कुवलयानन्द" पर "चन्द्रिका" टीका की रचना की है। ये स्वयं नैयायिक थे, वैयाकरण नहीं। क्योंकि –

(१) प्रभा में मूलभूत प्रदीप के अनुसार नैयायिकमत से ही व्याख्यान किया गया है, "उद्योतकार" के समान वैयाकरणमत के अनुसार नहीं। तथा

(२) "तिष्टेस्कोपवशात्....(उदाहरण ३११) के "स्वर्गाय" इस चतुर्थी को "क्रियार्थोपपदस्य." इ. सूत्र से कर्मणि चतुर्थी न कहते हुए भूल से "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इस सूत्र से चतुर्थी कही है। अपने समय आदि के विषय में उन्होंने उदाहरणचन्द्रिका के अन्त में इस प्रकार लिखा है :

"वियद्वेदमुनिक्ष्माभिर्मितेऽ (१७४० वि. सं.) ब्दे कार्तिके सिते ।
बुधाष्टम्यामिमं ग्रन्थं वैद्यनाथोऽभ्यपूरयत् ॥२॥"

तथा "इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणाभिज्ञ-धर्मशास्त्रपारावारपारीणतत्सत्विठ्ठल-भट्टात्मजश्रीरामभट्टसूरिसूनुना वैद्यनाथेन रचितायाम्........"

इसी प्रकार के उल्लेख "प्रभा" तथा "चन्द्रिका" (कुवलयानन्दटीका) के अन्त में भी आये हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि वैद्यनाथ तत्सत् के पिता श्रीरामभट्ट और दादा विठ्ठलभट्ट थे। इनका अस्तित्व १६८३-८४ ई. में था।

१४– "सुधासागर" के रचयिता भीमसेन दीक्षित :

इन्होंने अपनी टीका में अनेक (करीब १७) टीकाकारों के उल्लेख किये हैं जिनमें वङ्गीय नैयायिक अधिक संख्या में हैं। भीमसेन ने अपने वंश आदि के विषय में अपनी काव्प्रकाश की टीका के आरम्भ और अन्त में विस्तृत रूप से लिखा है। उसके अनुसार––

शाण्डिल्यवंशीय, विविधयज्ञकर्ता, कान्यकुब्जजातीय गङ्गादास दीक्षित इनके मूलपुरुष थे जिनके वंश में वीरेश्वर-मुरलीधर-शिवानन्द इस क्रम से भीमसेन उत्पन्न हुए। यह सारा वंश भगवद्भक्त तथा पाण्डित्यसेवी था। इस भीमसेन ने का. प्र. की टीका वि. सं. १७७९ (तद्नुसार १७२३ ई.) में लिखी।[1]

---

१. दे. 'संवद्ग्रहाश्वमुनिभूज्ञातेमासे मधौ सुदि। त्रयोदश्यां सोमवारे समाप्तोऽयं सुधोदधिः । इति श्रीपदवाक्यपारावारीणदीक्षितभीमसेनकृते सुधासागरे दशम उल्लासः।" का. प्र. टीका अन्तिम भाग।

टीका लिखने का उद्देश्य बतलाते हुए भीमसेन लिखते हैं—"कहाँ मैं मन्दमति और कहाँ काव्यप्रकाश जैसा गहन ग्रन्थ ?" इस कलियुग में सहायता भी प्राप्त होना कठिन है। समाज में शिष्टों का आदर भी नहीं किया जाता। अतः मुझे यह महाप्रबन्ध रचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। तथापि भगवान श्रीकृष्ण के चरणकमल की सेवा से मुझे भय नहीं है।[1] मैं इस ग्रन्थ में विवाद की इच्छा न रखते हुए, अर्थात् परमत खण्डन के हेतु शास्त्रार्थ न करते हुए, विद्वानों को विपुल हर्ष देने वाले इस सुधासागर ग्रन्थ की रचना करता हूँ।[2] "मेरा शास्त्राध्ययनसंबन्धी परिश्रम, भगवदुपासना, मेरे द्वारा उपार्जित पुण्य तथा किया हुआ तप, काव्यपरिशीलन, मेरे वंश की पवित्रता, तथा भगवद्भक्ति के कारण प्राप्त मानसिक निर्मलता इत्यादि सारी बातें सज्जनों को इस ग्रन्थ में देखने को मिलेंगी।[3] इस काव्यप्रकाश की व्याख्या अभी तक जिन जिन पण्डितों ने की है वे सारे उत्तम कवि तथा महापण्डित हैं। वे मेरे लिए वन्दनीय हैं। उनसे स्पर्धा करने की मुझे ईर्ष्या नहीं है। किन्तु सहस्रों ग्रन्थों से साररूप में उद्धृत होने पर भी जो कथन काव्यप्रकाश की "वृत्ति" से विरुद्ध है वह मेरे लिए असह्य है। उसका खण्डन करने में मुझे इन्द्र से भी (सुरेज्यात्) भय नहीं है।[4] मैंने आयु के पाँचवे वर्ष से समस्त सुखों का त्याग करके विविध शास्त्रों का अध्ययन किया है—और वह भी तीव्रबुद्धि से एवं अनुरागपूर्वक किया है—उसके फलस्वरूप यह सुधासागर ग्रन्थ सहृदयों के मन को सन्तोष देने वाला, एवं काव्य-प्रकाश की विवृति का रूप धारण करने वाला हो, यही मेरी इच्छा है।[5]

भीमसेन ने अपनी टीका में काव्यप्रकाश की व्याख्या करते समय प्रायः गोविन्द ठक्कुर के "प्रदीप" का और कहीं कहीं श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की "सारबोधिनी" और चक्रवर्ती भट्टाचार्य की "विस्तारिका" का ही उद्धरण दिया है। किन्तु जहाँ भी "प्रदीप" काव्यप्रकाश के अभिप्राय के विरुद्ध गया है वहाँ अनेक तर्क देकर "प्रदीप" का खण्डन भी किया है।

इस भीमसेन ने "अलङ्कारसारोद्धार" ग्रन्थ भी लिखा है। इसका उल्लेख इन्होंने का. प्र. के दसवे उल्लास में उपमालङ्कार की व्याख्या में किया है।

---

१. दे. भूमिका पद्य ९। (सु. सा.)
२. दे. भू. पद्य १४। वही।
३. दे. भूमिका पद्य १५ वही।
४. दे. भू. पद्य १७। वही।
५. दे. भू. पद्य १८, वही।

इनका एक अन्य ग्रन्थ "कुवलयानन्दखण्डन" भी है। इसका भी उल्लेख इन्होंने उपरोक्त सन्दर्भ में ही किया है।[1]

१५– प्रदीपव्याख्या "उद्योत" के रचयिता श्री नागोजीभट्ट :

श्री नागोजीभट्ट ने अपने वंश आदि के विषय में, स्वरचित शब्देन्दुशेखर, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, उद्योत, रसगङ्गाधर की टीका मर्मप्रकाश तथा अन्य अनेक ग्रन्थों की प्रस्तावना तथा समाप्ति में उल्लेख किया है। इसके अनुसार – इनका उपनाम काले और उपाध्याय था, पिता माता शिवभट्ट और सतीदेवी थे। ये आश्वलायनशाखीय महाराष्ट्र ब्राह्मण होकर भी इनका निवास वाराणसी में था। शृङ्गवेरपुर[2] के राजा राम से इन्हें जीविका प्राप्त होती थी। इनके वाराणसी निवास के कारण ही इन्होंने अपनी टीका (उद्योत) में "भूयोभूयः सविध" इ.[3] तथा "स्तोकेनोन्नति."[4] इ. की व्याख्या के समय "वलभी" का अर्थ "छज्जा" और "तुला" का अर्थ "काँटा" दिया है, महाराष्ट्र भाषा में प्रसिद्ध "सज्जा" एवं "तराजु" नहीं। इनके गुरु थे सुप्रसिद्ध सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता भट्टोजी दीक्षित के पौत्र श्री हरिदीक्षित एवं शिष्य थे शेखरग्रन्थों और लघुमञ्जुषा की टीका के रचयिता बालभट्ट उपाख्य वैद्यनाथ पायगुंडे। इनकी साहित्यरचना का समय १८ वीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है।[5] वि. सं. १७६९ (१७१३ ई.) माघ की लिखी "रसमञ्जरी" की टीका उपलब्ध हुई है। इसकी रचना श्री नागोजी भट्ट ने की थी।[6] व्याकरण पर इनके लिखे "मञ्जूषा" आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। व्या. महाभाष्य आदि पर टीकाओं की रचना, धर्मशास्त्र में १२ शेखर तथा निर्णय, "प्रदीप" ग्रन्थ तथा योगशास्त्र पर योगवृत्ति इनकी रचनाएं हैं। "काव्यप्रदीप" (श्री गोविन्द ठक्कुर रचित का. प्र. की व्याख्या) पर "बृहद्उद्योत" और "लघुउद्योत" की रचना, रसगङ्गाधर की "मर्मप्रकाशव्याख्या", रसमञ्जरी, गीतगोविन्द कुवलयानन्द, सुधालहरी आदि पर

---

१. दे. "अलङ्कारसारोद्धारेऽस्माभिः......लक्ष्मीपदं खण्डितम् ।" का. प्र. उपमा। तथा "उपमा यत्र........उपमालक्षणं कुवलयानन्दखण्डने खण्डितमस्माभिः ।" का. प्र. उपमा। सुधासागर।

२. उ. प्र. में प्रयाग के समीप ८ मील पर विद्यमान आज का शिंगदौर। दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ३५, टिप्पणी ३।

३. का. प्र. झ. पृ. १८०।

४. का. प्र. झ. पृ. ५२०।

५. दे. हि. सं. पो. पृ. ३१३।

६. दे. हि. सं. पो. पृ. ३१३।

रचित व्याख्याएं इनकी साहित्यशास्त्रीय रचनाएँ हैं। वा. रामायण, अध्यात्म-रामायण, सप्तशती आदि पर भी इनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं।

काव्यप्रदीप पर लिखी यह उद्योत टीका प्रदीपकार का आशय प्रकट करने में अतिशय उपयुक्त है। इसमें उदाहरण के रूप में उपस्थापित पद्यों की व्याख्या करते समय वैद्यनाथ की उदाहरणचन्द्रिका,[1] को ही विकल, अविकल या परिष्कृत रूप से उद्धृत किया है। किन्तु जहां भी वैद्यनाथ की "प्रभा" के द्वारा की गयी व्याख्या सम्मत नहीं है वहाँ पर अपने मत के अनुसार नई व्याख्या नागोजी भट्ट ने की है।

इन नागोजीभट्ट के संबन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है। अच्छे कुल में उत्पन्न तथा पिता के द्वारा विविध संस्कार किये जाने पर भी निपुण मतिवाले नागोजी भट्ट का मन अध्ययन में नहीं रमता था। इस प्रकार आयु के सौलह वर्ष व्यतीत हो चुके। निवास वाराणसी में ही था। यथाकथञ्चित् कुलपरम्परा-प्राप्त पौरोहित्य करके समय व्यतीत करते थे। एक समय अन्य गांव से एक यजमान वहाँ आकर उसने विद्वानों की एक सभा (शास्त्रार्थ हेतु) आयोजित की। उसमें नागोजी भट्ट एक श्रेष्ठ आसन पर बैठ गये। तब किसी ने उनका अपमान किया। इससे अतिशय लज्जित हुए नागोजी भट्ट सरस्वती की आराधना में जप करने लगे। "देवता के प्रसाद से मैं विद्वान बनूंगा अथवा प्राण त्याग दूंगा।" इस निश्चय से निराहार रहकर कुछ दिन व्रत किया। तब देवी सरस्वती ने प्रसन्न होकर उन पर कृपा की। पश्चात् पण्डितप्रवर हरिदीक्षित के पास जाकर नागोजी भट्ट ने विविधशास्त्रों का अध्ययन किया और अनेक ग्रन्थों की रचना कर यश अर्जित किया।

नागोजी भट्ट ने अपनी टीका में चण्डीदास, उदाहरणदीपिकाकार, तथा परमानन्द चक्रवर्ती इन तीन टीकाकारों का ही उल्लेख किया है।

१६– "तात्पर्यविवरण" रचयिता महेशचन्द्र :

इस "विवरण" में जयराम, चन्द्रिकाकार, उद्योतकार इत्यादि नाम उपलब्ध होते हैं। यह महेशचन्द्र बंगाल में कलकत्ता के संस्कृत महाविद्यालय में १८८२ ई. में अध्यापक रहे हैं।[2] इस ग्रन्थ का २य संस्करण अब उपलब्ध है।

१७– "अवचूरि" रचयिता राघव :

---

१. टीकाकार क्र. १३।

२. दे. टीकाकार क्र. १०।

अवचूरि अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पणी है। इसमें न तो किसी टीकाकार का उल्लेख है और न ही स्वयं के विषय में कुछ लिखा है। केवल पञ्चम उल्लास के अन्त में "इति पञ्चमोल्लासो राघवेनावचूरितः" इतना ही उल्लेख है। यह अवचूरि भी संपूर्ण न होकर केवल सप्तम उल्लास के अर्ध तक ही है।

१८– "बालबोधिनी" रचयिता वामनाचार्य झलकीकर :

श्री वामनाचार्यजी महाराष्ट्र के निवासी एवं पंढरपुर के विट्ठल के भक्त थे। इनके पिता रामचन्द्र और माता सरस्वती थी। उन्होंने बालकों के बोध के लिए "बालबोधिनी" टीका की रचना की है।[1] इसमें अनेक प्राचीन टीकाग्रन्थों से आवश्यक सामग्री का संकलन किया है। इस टीका के सम्बन्ध में श्री वामनाचार्यजी स्वयं इस प्रकार कहते हैं —

"प्रयत्नेन च संगृह्य समालोच्य च तत्त्वतः।
सारं ताभ्यः समुद्धृत्य टीकेयं क्रियते मया ॥"[2]

पूर्वाचार्यों का अभिप्राय कहीं-कहीं अविकल रूप से तो कहीं कहीं अनुवाद के रूप में दिया है। जिस ग्रन्थ से सामग्री उद्धृत की है उसका नाम भी प्रायः दिया है। जहां पर प्राचीनों की व्याख्या उपलब्ध नहीं थी वहाँ पर स्वयं ने व्याख्या की है। प्राचीनों की व्याख्याएँ प्रायः न्यायपरिपाटी से लिखी होने से कठिन हैं तथा संक्षिप्त भी। इसलिए छात्रों को उपयोगी हो ऐसी व्याख्या के निर्माण का उद्देश्य झलकीकरजी ने अपनाया है। इसी उद्देश्य के कारण अनेक कठिन स्थलों की व्याख्या करने के पश्चात् भी भावार्थ के रूप में पुनः उसका अनुवाद उन्हें करना पड़ा है। तथैव इसमें अनेक स्थलों पर मतभेदपूर्वक की गयी व्याख्याओं का, उद्धृत उदाहरणों के संदर्भ प्रदर्शन आदि का, उल्लेख होने के कारण यह टीका कुछ विशाल बन गयी है। किन्तु इतनी विशालता अनिवार्य थी। इसका निर्माण करते समय वामनाचार्यजी ने समय-समय पर अनेक विद्वानों से परामर्श भी किया था। इन विद्वानों में पण्डित रामकृष्ण भांडारकर, न्यायकोशकार म. म. भीमाचार्यजी झलकीकर (टीकाकार के ज्येष्ठ भ्राता), महेशचन्द्र देव आदि प्रमुख थे। इसका प्रथम प्रकाशन शकवर्ष १८०४ (१८८३ ई.) में, द्वितीय प्रकाशन शकवर्ष १८३२ (१९११ ई.) में, तृतीय प्रकाशन शकवर्ष १८३९ (१९१८ ई.) में, चतुर्थ प्रकाशन शकवर्ष १८४३ (१९२२ ई.) में तथा पञ्चम प्रकाशन शकवर्ष १८५५ (१९३४ ई.) में, पूना में भंडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट से हुआ है।

---

१. दे. का. प्र. झ. प्रशस्ति पृ. १४ पद्य १, २, ४।
२. दे. वही, प्र. पृ. १६ पद्य क्र. ३०।

श्री वामनाचार्यजी ने अपनी का. प्र. टीका के अन्त में अपने विषय में बहुत कुछ निवेदन किया है जिसके अनुसार – श्री वामनाचार्य पूना के शासकीय महाविद्यालय में अलङ्कार तथा व्याकरण के अध्यापक रहे थे। कर्नाटक प्रान्त के विजापुर जिले के "झलकी" ग्राम के निवासी थे। जाति महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थी। इनका गोत्र शाऊङ्कायन, शाखा तैत्तिरीय तथा संप्रदाय पूर्णप्रज्ञसिद्धान्तानुसारी था। टीका की समाप्ति शकवर्ष १८०४ कार्तिक शु. प्रतिपदा को हुई थी। अपनी टीका के उद्देश्य में वे लिखते हैं –

"काव्यप्रकाशगम्भीरभावबोधो न चान्यतः ।
इति हेतोर्मया यत्नः कृतोऽयं विदुषां मुदे ।[१]

नाममात्र से उपलब्ध टीकाएँ :

कुछ टीकाओं के केवल नाम उपलब्ध होते हैं। श्री वामनाचार्यजी के अनुसार वे इसप्रकार हैं:–

१. श्रीधर कृत प्राचीनतर टीका। म. म. काणे के अनुसार इस टीका का नाम "विवेक" है।[२] यह टीका का. प्र. विवेक नाम से चौ. स. सी. में अभी २ छपी है।

२. चण्डीदास रचित टीका। म. म. काणे के अनुसार इस टीका का नाम दीपिका तथा समय १३०० ई. के पूर्व का है। अब यह ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है।[३]

३. देवनाथरचित टीका।

४. भास्कररचित साहित्यदीपिका।

५. सुबुद्धिमिश्ररचित टीका।

६. पद्मनाभरचित टीका।

७. मिथिला के राजा के मन्त्री अच्युत तथा तत्पुत्र रत्नपाणि द्वारा रचित टीका। इस टीका का नाम "दर्पण" है। मिथिलेश राजा शिवसिंह है तथा रत्नपाणि का उपनाम मनोधर है। समय लगभग १४५० ई.।[४]

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. ७९०।
२. दे. हि. सं. पो. पृ. ३८८।
३. दे. हि. सं. पो. पृ. ३८९।
४. दे. हि. सं. पो. पृ. ३९०।

८. भट्टाचार्यरचित काव्यदर्पण ।

९. उनके पुत्र रवि के द्वारा रचित मधुमति ।

१०. तत्वबोधिनी तथा –

११. कौमुनी जिसके रचयिता की जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

१२. आलोक टीका के रचयिता की जानकारी नहीं है ।

१३. श्रीकण्ठस्तव आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता, मङ्खकवि के गुरु, रूय्यकापरनामक श्रीराजानकरूचक रचित काव्यप्रकाशसङ्केत । कदाचित् यह ग्रन्थ अब पुनः प्रकाशित हो चुका है । इसका प्रथम प्रकाशन कल. ओ. जर्नल भाग II पृ. १–७५ पर प्रो. एस्. पी. भट्टाचार्य के द्वारा हुआ था । (आगे पृ. ४५ (ब) क्र. ६ तथा १४ भी देखिए)

१४. जयरामभट्टाचार्यरचित प्रकाशतिलक टीका ।

१५. यशोधररचित टीका ।

१६. विद्यासागरकृत टीका ।

१७. मुरारिमिश्ररचित टीका ।

२०. जगदीशभट्टाचार्य द्वारा (जगदीशभट्टाचार्य नवद्वीप [बंगाल] के निवासी थे । उनका समय १७ वी (ई.) शती का आरम्भ था ।) तथा—

२१. रामनाथ द्वारा रचित "रहस्यप्रकाश" टीकाएँ ।

२२. गदाधरभट्टाचार्य द्वारा रचित टीका ।

२३. भास्करविरचित "रहस्यनिबन्ध" टीका ।

२४. रामकृष्णविरचित "काव्यप्रकाशभावार्थ ।"

२५. महापण्डित वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित टीका । म. म. काणे के अनुसार भामती आदि टीकाओं के रचयिता वाचस्पति मिश्र इस वाचस्पति सिश्र से भिन्न हैं ।[1]

२६. प्रदीपकार विरचित "उदाहरणदीपिका" अथवा "श्लोकदीपिका"

२७. तथा किसी जैन पण्डित द्वारा विरचित "अवचूरि" संज्ञक लघुटीका ।

---

१. हि. सं. पो. पृ. ३८८ ।

२८. विद्याचक्रवर्ती द्वारा रचित "संप्रदायप्रकाशिनी" (बृहट्टीका)। समय १४ शताब्दी ई.।[१]

२९. पण्डितराज (जगन्नाथ पण्डित से भिन्न) द्वारा रचित टीका।

३०. "निदर्शना" का उल्लेख टीकाकार क्र. ७ पर आ चुका है।

३१. राजानक रत्नकण्ठरचित "सारसमुच्चय" टीका। समय १६४८-८१ ई.।[२]

३२. बलदेव विद्याभूषण द्वारा केवल का. प्र. कारिकाओं पर (जिन्हें वे भरतसूत्र कहते हैं) रचित टीका (साहित्यकौमुदी) समय १७६० ई. के लगभग।[३]

निम्न टीकाओं का उल्लेख म. म. काणे ने अपने हि. सं. पो. के पृ. ३९१-३९२ पर किया है -

३३. कृष्णनन्दिन की "कृष्णनन्दिनी"। समय (?)

३४. कृष्णमित्राचार्य द्वारा रचित टीका। यह देवीदत्त का पौत्र तथा रामनाथ का पुत्र था।

३५. गुणरत्नगणि (जैनाचार्य) रचित "सारदीपिका"। समय (पाण्डु.) वि. सं. १७४२।

३६. गोपालभट्ट की "साहित्यचूड़ामणि" टीका। समय १७५० ई.।

३७. चिन्नतिम्म के पुत्र तिरुवेंकटरचित टीका। समय (?)

३८. रंगनाथदीक्षित के पुत्र नारायणदीक्षित रचित टीका। समय १७ वी ई. का अन्तिम चरण।

३९. मिथिला के कृष्णदेव पुत्र बलदेव कृत "लीला"। समय १६४९ ई.।

४०. भानुचन्द्र (जैन ?) समय (?)

४१. यज्ञेश्वर यज्वन् मद्रास, समय (?)

४२. रत्नेश्वर।

४३. राजानन्द।

४४. विजयानन्द। समय (पाण्डु.) १६८३ ई.।

---

१. हि. सं. पो. पृ. ३८९।
२. हि. सं. पो. पृ. ३९०।
३. हि. सं. पो. पृ. ३९०।

४५. शिवनारायणदास की "दीपिका"। समय १७ वी शती (ई.) का आरम्भ।
४६. रघुदेवकृत "कारिकार्थप्रकाशिका"। (समय ?)
४७. नरसिंहसूरिरचित "ऋजुवृत्ति" केवल कारिकाओं पर (समय ?)
४८. रामकृष्ण कवि की "कविनन्दिका" टीका।
४९. देवनाथ की "काव्यकौमुदी"। समय १६६०–६१ ई.।
५०. मधुमतीगणेश का "काव्यदर्पण" (समय ?)
५१. नागराज केशव की "पदवृत्ति"।
५२. कृष्णद्विवेदी की "मधुर-रसा"।
५३. भास्कर का "रहस्य-निबन्ध"।
५४. श्रीकृष्णशर्मा का "रस-प्रकाश"। अब यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।
५५. शिवरामत्रिपाठी की "विषमपदी"।
५६. जनार्दन व्यास की "श्लोकदीपिका"।
५७. रामचन्द्ररचित "सार"।
५८. केवल कारिकाओं पर लिखा "साहित्यचन्द्र"।
५९. वेंकटाचलसूरि विरचित "सुबोधिनी" तथा।
६०. गोपीनाथरचित – "सुमनोमनोहरा"। समय १७ वीं (ई.) शती का अन्तिम भाग।

इस प्रकार केवल नाममात्र से उपलब्ध टीकाओं की संख्या लगभग ५९-६० होती है। इनमें से अनेक टीकाओं के रचियता का उल्लेख नहीं मिलता तथा कुछ टीकाकारों के केवल नाम उपलब्ध हैं, उनके द्वारा रचित टीकाओं के नाम प्राप्त नहीं होते हैं। समय भी अनेक टीकाओं का उपलब्ध नहीं होता है। पृ. २१ से ३९ तक उल्लिखित १८ टीकाएँ तथा ये ६० टीकाएँ मिलाकर ७८ के लगभग संख्या होती है। संस्कृत में लिखी और भी टीकाएँ हो सकती हैं। कुछ तो, पाण्डुलिपि के रूप में ही रही होंगी तथा अन्य, काल तथा देश की अज्ञात एवं विशाल कुक्षियों में विश्रान्ति ले रही होंगी। केवल संस्कृत में किसी ग्रन्थ पर इतनी टीकाओं का लिखा जाना म. म. काणे के कथनानुसार,[1] श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़ अन्यत्र कहीं पर भी देखा नहीं जाता है। इतना होने पर भी, यह ग्रन्थ आज भी अनेक स्थलों पर दुरूह ही बना हुआ है।

---

१. द. पृ. २०

काव्यप्रकाश की अन्यभाषीय टीकाएँ :

वामनाचार्य की "बालबोधिनी" के पश्चात् काव्यप्रकाश पर संस्कृत में टीकाओं का लिखा जाना प्रायः बन्द हो गया। उसके स्थान पर अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं में इनका निर्माण होने लगा। जैसे-जैसे विश्वविद्यालयोन शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा होती जायगी वैसे-वैसे अन्य भाषाओं में भी का. प्र. पर टीकाओं का निर्माण होता जायगा।

अंग्रेजी में टीका लिखने वाले, प्रायः महाविद्यालयों के आचार्य रहे हैं। इनकी टीकाएँ भी सम्पूर्ण ग्रन्थ पर न होकर उल्लास १, २, ३, तथा १० पर ही विशेष कर उपलब्ध हैं। ये टीकाकार प्रायः महाराष्ट्र के हैं। इनकी टीकाएँ "नोट्स" के नाम से जानी जाती हैं। ये ग्रन्थ किसी प्राचीन संस्कृत टीका के साथ, अन्त में अपने नोट्स देकर तथा आरम्भ में अंग्रेजी में विस्तृत भूमिका देकर सम्पादित किये जाते हैं। कुछ ग्रन्थ केवल अंग्रेजी भूमिका तथा नोट्स के साथ प्रकाशित किये गये हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ इस प्रकार हैं :—

१. डॉ. गंगानाथ झा विरचित "ट्रेटाईज् आन हेटोरिक्स्" काव्य-प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद। इसका प्रथम प्रकाशन पण्डित पत्रिका के १८-२१ अंकों में ई. स. १८९६-९९ में हुआ था। फिर बनारस में १८९९ तथा १९१८ में इसका पुनर्मुद्रण हुआ था। बम्बई में भी इसके १, २, १० उल्लासों का प्रकाशन १९१३ में हुआ था।[१]

२. डॉ. एच्. डी. वेलनकर द्वारा अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद तथा नोट्स के साथ सम्पादित का. प्र. का प्रथम तथा द्वितीय उल्लास।

३. श्री पी. पी. जोशी द्वारा सम्पादित का. प्र. (क्र. २ के समान) इसमें १० वां उल्लास भी व्याख्यार्थ स्वीकृत है।

४. प्रो. चांदोरकरजी ने गोविन्द ठक्कुर के "काव्यप्रदीप" के साथ तथा नागोजी भट्ट के "उद्योत" के साथ का. प्र. के १, २, ७ तथा १० उल्लास अपनी अंग्रेजी भूमिका आदि के साथ प्रकाशित किये हैं।

५. श्री एस्. व्ही. दीक्षित के द्वारा अंग्रेजी में विस्तृत भूमिका आदि के साथ उल्लास १-३ तथा १० का प्रकाशन किया गया है।

६. श्री अच्युताचार्य बालाचार्य गजेंद्रगड़करजी द्वारा विस्तृत भूमिका आदि के साथ सम्पादित तथा डॉ. एस. एन. गजेंद्रगड़कर द्वारा संबर्द्धित का. प्र. के १-३ तथा १०म उल्लास।

---

१. दे. सुकुडे पृ १५५-६।

७. डॉ. एच्. डी. शर्मा द्वारा का. प्र. के १-३ तथा दसवें उल्लास का अंग्रेजी अनुवाद ।

८. डॉ. आर. सी. द्विवेदी संपादित, अंग्रेजी अनुवाद एवं विद्याचक्रवर्ती की संप्रदायप्रकाशिनी संस्कृत टीका सहित। प्रथम ६ उच्छ्वास ।

९. काव्यप्रकाश : श्रीकृष्ण शर्मा रचित "रसप्रकाश" समेत डॉ. एन्. एन्. शास्त्री कृत अंग्रेजी भूमिका तथा व्याख्या से युक्त भाग १ उल्लास १-५ (१९७० के लगभग प्रकाशित हो रहा है ।)

हिन्दी भाषा में भी काव्यप्रकाश पर इसी तरह से टीकाएँ लिखी जा रही है । आरम्भ में विस्तृत भूमिका तथा मूलग्रन्थ की विशद व्याख्या का समायोजन इन टीकाओं में किया जा रहा है । टीकाकारों की प्रवृत्ति भी केवल कुछ उल्लासों पर व्याख्या लिखने की अपेक्षा सम्पूर्ण ग्रन्थ पर ही लेखन करने की रही है । इसका स्वरूप भी प्रायः ग्रन्थ के अर्थ का सरल तथा विशद रूप से स्पष्टीकरण देने वाला रहा है । संस्कृत टीकाओं की शास्त्रीय तथा शास्त्रार्थ की प्रणाली का अनुसरण इन ग्रन्थों में नहीं किया गया है । इस प्रकार के कुछ लेखक निम्न हैं—

१. डॉ. सत्यव्रतसिंह रचित "शशिकला" व्याख्या तथा टिप्पणी आदि से युक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ । १९६० ई. चौ. विद्या भवन, वाराणसी ।

२. डॉ. हरदत्तशास्त्री तथा श्रीनिवासशास्त्री रचित "प्रभा" नाम की हिन्दी व्याख्या । इसकी रचना वि. सं. २०१७ (१९६१ ई.) के लगभग हुई है । प्रकाशक साहित्य भंडार मेरठ।

३. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि रचित काव्यप्रकाशदीपिका हिन्दी व्याख्या सहित संपूर्ण । सं. डॉ. नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल वाराणसी । वि. सं. २०१६ (१९६० ई)।

४. मराठी में भी पूना से पं. अर्जुनवाड़कर-मङ्गरुळकरजी ने एक विस्तृत टीका का. प्र. के कुछ भाग पर लिखी है। इसका प्रकाशन ई. १९६२ में पूना में देशमुख एण्ड कम्पनी ने किया है ।

काव्यप्रकाश के संस्करण :

काव्यप्रकाश ग्रन्थ का प्रकाशन अनेक बार हुआ है । कभी केवल मूल तो कभी किसी टीका के साथ । कभी अंश के रूप में तो कभी संपूर्ण । हम यहाँ पर कुछ महत्व के संस्करणों की जानकारी दे रहे हैं । यह जानकारी सु. कु. डे. के "संस्कृत पोएटिक्स" से उद्धृत की गयी है ।

(अ) केवल मूल अथवा किसी आधुनिक टीका के साथ प्रकाशित –

१. १८२९ ई. में, नाथूराम द्वारा एज्युकेशनल प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित । कदाचित यह सर्वप्रथम मुद्रित संस्करण हो सकता है ।[1]

२. महेशचन्द्र न्यायरत्न द्वारा स्वकृत टीका "तात्पर्य-विवरण" के साथ, कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण । समय १८६६ ई. ।

३. पं. वामनाचार्य झलकीकर द्वारा स्वकृत "बालबोधिनी के साथ बांबे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित संस्करण । प्रथम प्रकाशन १८८३ ई.

४. श्री डी. आर. शास्त्री द्वारा चौ. सं. सी. बनारस से १९२६ ई. में, मिथिला निवासी हरिशंकर शर्मा रचित टीका सहित संस्करण ।

५. श्री मल्लारी लक्ष्मण शास्त्री रचित "बुद्धमनोरञ्जिनी" टीका के साथ मद्रास से १८९१ ई. में प्रकाशित संस्करण । अन्य आधुनिक संस्करण पूर्व में उद्धृत किये ही हैं ।

(ब) किसी प्राचीन टीका के साथ प्रकाशित :

१. महेश्वर न्यायालङ्कार रचित "आदर्श" के साथ प्रकाशित संस्करण । संपादक, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता । समय १८७६ ई. । १९३६ में इसीका संपादन कलकत्ता सं. सेरीज में हुआ था ।

२. कमलाकर भट्ट रचित टीका (संज्ञा नहीं दी है) के साथ प्रकाशित संस्करण । संपादक श्री पपाशास्त्री, वाराणसी । समय १८६६ ई. ।

३. श्री गोविन्द ठक्कुर के "प्रदीप" तथा वैद्यनाथ तत्सत् की "प्रभा" के साथ प्रकाशित संस्करण । निर्णयसागर मुद्रणालय बम्बई । समय १८९१ ई. तथा १९१२ ई. ।

४. "प्रदीप" टीका तथा नागोजी भट्ट रचित "उद्योत" के साथ प्रकाशित संस्करण । (केवल १, २, ७, १० उल्लास) संपादक पूना के डी. टी. चांदोरकर । समय १८९६, १८९८, १९१५ ई. ।

५. केवल "प्रदीप" के साथ "पण्डित" पत्रिका के ४ अंकों में (१० से १३) यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था । समय १८८८-१८९१ ई. ।

६. "प्रदीप", "उद्योत", "प्रभा" तथा रुचक के "संकेत" एवं श्रीनरहरि सरस्वतीतीर्थ रचित "बालचित्तानुरञ्जनी" के साथ

---

१. दे. सु. कु. डे. पृ. १५४ ।

प्रकाशित संस्करण । केवल १, २, ३, १० उल्लास । सम्पादक श्री एस. एस. सुखटणकर, बम्बई । समय १९३३, १९४१ ई. ।

७. "प्रदीप" तथा "उद्योत" के साथ संपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन आनन्दाश्रम पूना में, पं. वासुदेवशास्त्री अभ्यंकरजी ने, ई. स. १९११ में किया था ।

८. श्रीबलदेव विद्याभूषणरचित "साहित्य-कौमुदी के साथ प्रकाशित संस्करण । निर्णयसागर प्रेस बम्बई । समय १८९७ ई. ।

९. माणिक्यचन्द्ररचित "संकेत" के साथ, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना के द्वारा प्रकाशित संस्करण । संपादक पं. वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर । समय १९२१ ई. ।

१०. यही ग्रन्थ श्री आर. शर्मा शास्त्री म्हैसूर, ने भी, १९२२ ई. में प्रकाशित किया था ।

११. चण्डीदासरचित "दीपिका" के साथ, पं. शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा संपादित संस्करण । सरस्वती भवन, बनारस । समय १९३३ ई. ।

१२. श्री विद्याचक्रवर्तीरचित "सम्प्रदाय-प्रकाशिनी" तथा लोहित्यभट्ट-गोपालरचित "साहित्यचूडामणि" के साथ प्रकाशित संस्करण । संपादक श्री. एच. हरिहरशास्त्री त्रिवेन्द्रम संस्कृत सेरीज । दो भागों में । समय १९२६ तथा १९३० ई. ।

१३. भीमसेनदीक्षितरचित "सुधासागर" समेत संस्करण । संपादक श्रीनारायणशास्त्री खिस्ते, चौ. सं. से. बनारस । समय १९२७ ई. ।

१४. रुचकरचित "संकेत" के साथ प्रकाशित संस्करण । संपादक पं. शिवप्रसाद भट्टाचार्य । कलकत्ता ओरिएन्टल जर्नल ii में प्रकाशित । समय १९३५ ई. ।

१५. श्रीधररचित "विवेक" के साथ प्रकाशित संस्करण । संपादक पं. शिवप्रसाद भट्टाचार्य । संस्कृत कालेज कलकत्ता । भाग १ उल्लास १–४ । प्र. समय १९५९ ई. । अब यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है ।

१६. जयन्तभट्टरचित "जयन्ती" अथवा "दीपिका" के कुछ अंश भांडारकर रिपोर्ट में १८८३–८४ ई. में प्रकाशित हुए थे ।

१७. सोमेश्वररचित "काव्यादर्श" अथवा "संकेत" के साथ दो भागों में प्रकाशित । संपादक आर. सी. पारिख । राजस्थान प्राच्य-

विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर। समय १९५९ ई.। चौ. सं. सी. में उपलब्ध।

१८. "साहित्यदर्पण" कर्ता विश्वनाथ विरचित "दर्पण" टीका के कुछ उद्धरण श्री झलकीकरजी की, का. प्र. की भूमिका में उद्धृत है।

१९. भास्कररचित "काव्यदीपिका" टीका। इसके कुछ अंश राजेन्द्रलाल मित्र की नोटीसेस आफ एम. एस. एस. १-१० में प्रकाशित हुए हैं।

२०- परमानन्द चक्रवर्ती रचित "विस्तारिका" के तथा जयराम न्याय-पञ्चानन कृत "तिलक" अथवा "जयरामी" जिसका एक नाम "रहस्यदीपिका" भी हो सकता है, के कुछ अंश पीटरसन्स रिपोर्ट के पृ. १०८-१०९ पर प्रकाशित हुए हैं।

२१- पीटर्सन की रिपोर्ट में— रवि की "मधुमती" के, रत्नपाणि की "काव्य-दर्पण" टीका के, राजानक आनन्दरचित "निदर्शना" के, राजानक रत्नकण्ठकृत "सारसमुच्चय" के तथा अन्यान्य टीकाओं के अंश प्रकाशित हुए हैं।

पाण्डुलिपियाँ :

काव्यप्रकाश की अनेक पाण्डुलिपियाँ स्थान-स्थान पर संग्रहित है जिनकी उपलब्धि निम्न ग्रन्थालयों-सूचियों से हो सकती है।

1- Aufrecht : Catalogus Catalogorum : Leipzig. 1891-1903.

2- Bendall : Catalogue of Sans. MSS in British Museum, London 1902.

3- भांडारकर : Bhandarkar's Reports on the Search of Sans. MSS.

4- महाराजा बिकानेर का ग्रन्थालय, बिकानेर।

5- Tanjawar Catalogue : Index to Sans MSS. Palace at Tanjore.

6- Peterson : Peterson's Reports on the search of Sans. MSS.

7- Rices : Catalogue of Sans. MSS in Mysore and Coorg, Bangalore.

8- Lists of Sanskrit, Jain and Hindi MSS. Sanskrit College, Banaras.

9- Discriptive Catalogue of Sans. MSS in the Calcutta Sanskrit College, Calcutta.

10- Jammu Catalogue of Sanskrit MSS. Raghunath Temple Library Maharaja of Jammu, Kashmir.

11- Winternitrz's Catalogue of South Indian Sanskrit MSS in the Royal Asiatic Society, London.

12- P. Peterson's Catalogue of Sans. in the Library of the Maharaja of Alwar.

आदि आदि।

काव्यप्रकाश के संस्करण, पाण्डुलिपियाँ, टीकाएँ इतनी विपुल मात्रा में प्राप्त होती हैं जिनका सम्पूर्ण संग्रह तैयार करना असम्भव है। इस सम्बन्ध में महेश्वर की "काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।" यह उक्ति सार्थक प्रतीत होती है। ऊपर जो जानकारी हमने एकत्रित करके दी है, वह भी केवल परिचय मात्र है, सम्पूर्ण नहीं। किन्तु काव्यप्रकाश के महत्व तथा गरिमा के प्रकाशन में वह पर्याप्त होगी।

★ ● ★

अध्याय – ३

काव्यप्रकाश का बाह्य स्वरूप

१– काव्यप्रकाश – रचना :

आचार्य मम्मट रचित काव्यप्रकाश प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त है। कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिकाओं को ही सूत्र कहा जाता है। श्री विद्याचक्रवर्ती रचित "संप्रदाय-प्रकाशिनी" में कारिकाओं को "सूत्र" कहा है।[१] चण्डीदास ने अपनी टीका में "कारिकाकार" को "सूत्रकार" कहा है।[२] इन कारिकाओं की संख्या १४२ तथा सूत्रों की संख्या २१२ है। रचना भी पाणिनि के व्याकरण-सूत्रों-जैसी अति संक्षिप्त एवं सारवती है। ये कारिकाएँ संक्षिप्तरूप से अर्थ को सूचित करती हैं। "वृत्ति" ग्रन्थ के अभाव में इनके अर्थ का स्पष्टीकरण करना कठिन हो जाता है। "वृत्ति-ग्रन्थ" भी अपने आप में संक्षिप्त ही होता है, जिसका आदर्श स्वरूप योगसूत्रों पर भोजराज विरचित राजमार्तण्ड आदि वृत्ति-ग्रन्थों में देखा जा सकता है। काव्यप्रकाश के वृत्तिग्रन्थ की विशेषता यही है कि उसमें सूत्र-व्याख्यान के साथ-साथ प्रसङ्गोपात्त अन्य विषय भी समाविष्ट तथा चर्चित किये गये हैं। इस विधान के संदर्भ में "संकेतितश्चतुर्भेदो".[३] का वृत्तिग्रन्थ, "स्वसिद्धये पराक्षेपः०" इ०[४] का "गौरनुबन्ध्यः" इत्यादौ" यह वृत्तिग्रन्थ, पृ. ४९ पर "गौणी" की व्याख्या करने वाला वृत्ति-ग्रन्थ, "विभावा अनुभावास्तत्०" इ० सूत्र की[५] व्याख्या में सविस्तार रसनिरूपण करने वाला वृत्तिग्रन्थ आदि अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वृत्तिग्रन्थ की संक्षिप्तता के कारण ही का. प्र. के अर्थज्ञान के लिए अनेक टीकाओं के निर्माण की आवश्यकता रही है और इतनी सारी टीकाएँ होने पर भी वह अपनी "दुरूहता" का त्याग नहीं कर रहा है। तीसरा अंश है उदाहरणों का। इनका संग्रह आचार्य मम्मट ने विविध साहित्य से, जिसमें प्राकृत साहित्य का भी अन्तर्भाव है, किया है। इन उदाहरणों के संदर्भ आदि ज्ञात कर लेने पर आचार्य मम्मट के साहित्य के विस्तृत परिचय का तथा उनकी संग्रहशील विवेचक बुद्धिमत्ता

---

१. दे. संप्रदाय प्र. पृ. ७,८१।

२. दे. चण्डीदासरचित दीपिका पृ. ८८।

३. का. प्र. झ. पृ. ३२।

४. पृ. ४४ वही।

५. पृ. ८६ वही।

का ज्ञान होता है। इन उदाहरणों के समन्वय आदि के हेतु भी "वृत्ति" ग्रन्थ की रचना आचार्य मम्मट ने की है। इन उदाहरणों की संख्या ६०३ है जिनका संग्रह पूर्ववर्ती कालिदास, माघ, भवभूति, हर्ष, अमरुक, रुद्रट, आनन्दवर्धनाचार्य, वामन, भारवि, भट्टनारायण, महाभारत, विष्णुपुराण, गाथासप्तशती, हरविजय उपनिषद् आदि अनेक साहित्यकारों तथा रचनाओं से किया गया है।[1] अब हम इन विभागों के रचयिता के विषय में चर्चा करेंगे।

२– काव्य प्रकाश के सूत्र, वृत्ति, उदाहरणों के रचयिता के सम्बन्ध में चर्चा :

काव्य-प्रकाश में उद्धृत उदाहरण, जिनकी संख्या लगभग ६०० है, आचार्य मम्मट विरचित नहीं हैं अपितु वह विभिन्न साहित्यकारों की रचना है। जैसे साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थों में उदाहरण देते समय श्री विश्वनाथ ने "इदं मम" आदि का उल्लेख करके सम्बन्धित कृति को अपनी रचना होना स्वीकृत किया है, वैसा कोई उल्लेख काव्यप्रकाश में नहीं आया है। न कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध होता है जिससे उदाहरणभूत किसी पद्य को हम मम्मट की कृति मान लें। अतः ये उदाहरण अन्य रचित ही हैं।

सूत्र (कारिका) तथा "वृत्ति" के विषय में यह विवाद अवश्य है कि, इन दोनों के रचयिता आचार्य मम्मट न होकर उन्होंने केवल वृत्तिग्रन्थ की रचना की है और कारिकाओं के रचयिता हैं भरतमुनि। इस वाद पर श्री वामनाचार्य ने तथा म. म. काणेजी ने प्रकाश डालकर उसका निर्णय भी आचार्य मम्मट के पक्ष में लगाया है। इस विवाद का स्वरूप कुछ इस प्रकार है।[2]

काव्यप्रकाश की कारिकाएँ १४२ तथा सूत्र-संख्या २१२ है। इन कारिकाओं का "सूत्र" रूप से उल्लेख भीमसेन, वैद्यनाथ, गोविन्द ठक्कुर आदि अनेक टीकाकारों ने किया है। इसी कारण से इनके व्याख्यान स्वरूप मम्मट के ग्रन्थ को "वृत्ति" कहा गया है। क्योंकि सूत्रों की व्याख्या वृत्ति से की जाती है। जैसे व्याकरणसूत्रों पर लिखी "काशिका" व्याख्या "वृत्ति" है। कुछ मध्यकालीन टीकाकारों का अभिमत यह है कि, का. प्र. के सूत्रों के रचयिता भरतमुनि हैं और उन पर आचार्य मम्मट ने "वृत्ति" लिखी है। "साहित्यकौमुदी" के रचयिता श्री विद्याभूषण (१७६० ई. के लगभग) लिखते हैं—

"सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां ।
वृत्तीनां मितवपुषां कृती ममास्याम् ॥"[3]

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. ७९१ से ७९८।
२. दे. हि. सं. पो. २५७-६०, का. प्र. झ. भू. पृ. ११-१३।
३. दे. हि. सं. पो. पृ. २५७।

तथा अन्त में वे ही लिखते हैं—

"मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम् ।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात् ॥"[1]

महेश्वरभट्ट ने (१७३४ ई.) भी (जीवानन्द संस्करण पृ. ३) काव्यप्रकाश की कारिकाओं के रचयिता को "भरत ही" माना है। "तिलक" के रचयिता जयराम (१५०० से १७०० ई.) का भी आरम्भ में यही मत था।

इन टीकाकारों का इस प्रकार मत होने के निम्न कारण हैं—

१– का. प्र. की कुछ कारिकाएँ भरतमुनि के नाट्यशास्त्रोक्त कारिकाओं के समान हैं। यथा का. प्र. झ. पृ. ११ पर उल्लिखित "रतिर्हासश्च शोकश्च." इ. कारिका, पृ. ९८ पर उल्लिखित "शृङ्गारवीरकरुण" इ. कारिका, तथा पृ. ११२ पर की "निर्वेदग्लानिशङ्काख्या." इ. ४ कारिकाएँ नाट्यशास्त्र (भरत०) अध्याय ६ की १५, १७ तथा १८-२१ कारिकाओं के समान हैं।

२– काव्यप्रकाश के आरम्भ में मङ्गलश्लोक की अवतरणिकारूप वृत्तिग्रन्थ "ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां **ग्रन्थकृत् परामृशति" में** किया हुआ अन्यपुरुष का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि सूत्रग्रन्थ (मं. कारिका) का कर्ता तथा "वृत्तिग्रन्थ" का कर्ता भिन्न हैं।

३– कारिकाकार तथा वृत्तिकार के विधानों में कहीं २ मतभेद भी दिखाई देता है। यथा :– का. प्र. पृ. ५०४ पर साङ्गरूपक का लक्षण करते समय "समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा" इस कारिका में "आरोपिता", (अर्थात् उपमान) बहुवचन दिया है। किन्तु "वह विवक्षित नहीं है" (आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम्) ऐसा वृत्ति में कहा है। यदि वृत्तिकार मम्मट ही कारिकाकार होते तो वे स्वयं "श्रौतावारोपितौ यदा" इस प्रकार ही कारिका करते। किन्तु वृत्तिकार भिन्न होने से ऊपर कहा विशेष वृतिकार को देना पड़ा है।

किन्तु ये सारे कारण कुछ सोच-विचार के साथ देखने पर तर्क-संगत नहीं लगते हैं।

कारण —

१– कारण १ के विषय में कहा जा सकता है कि मम्मट की १४२ कारिकाओं में केवल कुछ इनी-गिनी कारिकाएँ ही भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होती हैं तथा वे भी रसविवेचन के विषय में है। आचार्य मम्मट के

---

१. दे. हि. सं. पो. पृ. २५७।

समय भरत ने रसविवेचन में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया था। मम्मट को लगा कि रस के संबन्ध में भरत द्वारा प्रयुक्त शब्द से उत्तम अर्थवाहक शब्द अन्य नहीं हो सकते। इसी कल्पना से आचार्य मम्मट ने भरत के ही शब्दों का प्रयोग किया है। अन्य ग्रन्थकारों से लक्षण आदि को लगभग उसी रूप में उठा लेने का कार्य आचार्य मम्मट ने अन्यत्र भी किया है। काव्यप्रकाश पृष्ठ ४०६ पर—"कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिर्निर्मितिः। संनिधानादिबोधार्थम्" (सूत्र ७७) इत्यादि कारिका वामन के "कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः संनिधेः ॥[1] के आधार पर रचित है। वामन ते स्वयं काव्यालङ्कार-सूत्र २-२-१९ की व्याख्या करते समय उक्त पद्य का उद्धरण दिया है। अतः वामन ने जिस पद्य का पूर्व में उदाहरण दिया है उसी को आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत स्थान पर सूत्र बना डाला है। इसी प्रकार "ये रसस्याङ्गिनो धर्माः०"[2] इत्यादि कारिका तथा "उपकुर्वन्ति तं सन्तं."[3] इत्यादि कारिका आचार्य आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक के

> तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
> अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥[4]

इस कारिका से मिलती जुलती है।

२—वृत्तिग्रन्थ में अन्यपुरुष के प्रयोग के विषय में यह कहा जा सकता है कि, प्राचीन टीकाकार स्वयं का उल्लेख प्रथमपुरुष की अपेक्षा अन्यपुरुष में करना ही पसंद करते थे। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने "ग्रन्थारम्भे—वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते"[5] पर स्वयं के विषय में अन्यपुरुष का ही प्रयोग किया है।

३—इस कारण में बहुवचन और द्विवचन का उल्लेख करके सूत्रकार तथा वृत्तिकार की विभिन्नता बतलाने की जो चेष्टा की गयी है वह गुमराह करने वाली है। सूत्रकार ने सामान्यरूप से कहा है कि जितने ही उपमान हों वे सारे यदि "श्रौत"—शब्दप्रतिपादित हो, तो वहाँ पर समस्त वस्तुविषय (साङ्ग) रूपक होता है। किन्तु यह बात बहुवचन के द्वारा कही गयी है। यदि

---

१. का. सू. वा. २-२-१४।
२. का. प्र. झ. पृ. ४६२।
३. का. प्र. झ. पृ. ४६४।
४. ध्व. २-७।
५. सा. द. पृ. १।

केवल दो उपमानों का ही प्रयोग किसी स्थान पर हो तो वहाँ पर यह बहुवचन संगत नहीं होगा। अतः सूत्रकार ही स्वरचित वृत्तिग्रन्थ में कहते हैं "बहुवचन-मविवक्षितम्" इस प्रकार दो उपमानों वाले उदाहरण का भी संग्रह किया जा सकता है।

इन तर्कों के विपरीत सूत्रकार तथा वृत्तिकार की एकता के विषय में ठोस प्रमाण भी मिलते हैं वे इस प्रकार हैं —

१— आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में कहीं पर भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि वह किसी अन्य के द्वारा लिखित ग्रन्थ पर वृत्ति लिख रहा है। न उसने अपनी "वृत्ति" के लिए स्वतन्त्ररूप से मङ्गलाचरण किया है। यदि वृत्ति तथा कारिका की रचना भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने की है तो मङ्गलाचरण भी भिन्न-भिन्न आवश्यक हैं।

२—काव्यप्रकाश की[1] "कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।" इत्यादि रस का विवेचन करने वाली कारिकाओं पर "उक्तं हि भरतेन." इत्यादि वृत्तिग्रन्थ है। यदि कारिकाओं की रचना भरतमुनि ने ही की है तब वृत्तिग्रन्थ "तदुक्तं अनेनैवान्यत्र" अथवा "तदुक्तं भरतेनैवान्यत्र" इस प्रकार से होना था। किन्तु भरत की उक्ति के समर्थन में भरत की ही उक्ति का उद्धरण देना किस प्रकार उचित हो सकता है? यह भी विचारणीय है।

३—काव्यप्रकाश की "साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्।"[2] इस कारिका में कारिकाकार ने मालारूपक का उल्लेख करके उसे "पूर्ववत्" अर्थात् पूर्व में (उपमाप्रकरण में) निरूपित मालोपमा के समान बतलाया है। किन्तु मालोपमा का उल्लेख पूर्व में कारिका में न करते हुए केवल वृत्तिग्रन्थ में किया गया है।[3] यदि वृत्तिकार और कारिकाकार अभिन्न नहीं हैं तो वृत्तिकार के कथन का उल्लेख कारिकाकार किस प्रकार कर सकते हैं? अतः दोनों के रचयिता को एक ही मानना युक्तिसंगत होगा।

४— माणिक्यचन्द्र, जयन्तभट्ट, सरस्वतीतीर्थ, सोमेश्वर जैसे प्राचीन टीकाकारों में से किसी ने भी वृत्तिकार एवं कारिकार में भेद नहीं बतलाया है। प्रत्युत प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकार उनकी एकता के प्रतिपादक मिलते हैं। आचार्य हेमचन्द्र अपने काव्यानुशासन (पृ. ४) में लिखते हैं — "एवमानन्द

---

१. का. प्र. झ. पृ. ८५-८६ पर।
२. पृ. ५९९ वही।
३. दे. पृ. ५८० वही।

यशश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तीनां काव्यप्रयोजनतामसाधारणीं प्रतिपाद्य यत्कैश्चित् श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनं--मनर्थनिवारणं प्रयोजनत्रयमुपन्यस्तम्" इ.। इस उद्धरण में हेमचन्द्र ने काव्यप्रकाश के "काव्यं यशसेऽर्थकृते." इत्यादि कारिका और उस पर के वृत्तिग्रन्थ को एककर्तृक मानकर ही उल्लेख किया है।

५— हेमचन्द्र ने ही काव्यानुशासन के पृ. १०९ पर लिखा है :— "यथाह मम्मटः अगूढमपरस्याङ्ग०" इ.।[१] इससे स्पष्ट होता है कि हेमचन्द्राचार्य, जिनका समय आचार्य मम्मट से लगभग ५० वर्ष के आसपास का (१०८०-११७२ इ.) है, कारिकाओं के रचयिता मम्मट को ही मानते हैं।

६– अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक) के टीकाकार जयरथ ने, जिनका समय १३ वीं शती का प्रथम चरण माना गया है,[२] अपनी टीका विमर्शिनी में[३] काव्यप्रकाशकृत् का निर्देश, किसी भी प्रकार से वृत्तिकार या कारिकाकार का भेद न करते हुए, किया है।

७– प्रतापरुद्रयशोभूषण में विद्यानाथ ने[४] कारिकाओं का उल्लेख काव्यप्रकाश के रूप में किया है।

८– चित्रमीमांसाकार श्री अप्पयदीक्षित (१६ वी श. उत्त.)[५] पृ. ८० पर उत्प्रेक्षा का लक्षण बतलानेवाली कारिका तथा उसके उदाहरण को "काव्य-प्रकाशिकाकार" की रचना मानते हैं।[६]

९– पण्डितराज जगन्नाथ ने रसङ्गगाधर में[७] कारिकाओं की रचना का दायित्व मम्मट को सोंपा है।

१०– "तिलक" रचयिता जयराम, "सुधासागरी" के रचयिता भीमसेन, "साहित्यचूड़ामणि" के गोपालभट्ट तथा कमलाकर इन सब टीकाकारों के अनुसार

---

१. का. प्र. झ. उल्लास ५ का. १-२ ।
२. दे. हि. सं. पो. २७४।
३. पृ. ११०, १३७, १५०, १९९ इ.।
४. पृ. ६, ९०, २२४ आदि।
५. दे. हि. सं. पो. पृ. ३०७।
६. दे. काव्यप्रकाशिकाकारस्याप्ययमेव पक्षोऽभिमतः। तेन हि 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति उपमानोपमेयस्य तादात्म्यसंभावनमुत्प्रेक्षालक्षण-मभिधाय "उन्मेषं यो मम न सहते" इति तत्रोदाहरणं कृतम्। चित्रमीमांसा पृ. २६३।
७. दे. रसगङ्गाधर पृ. २४, २६ आदि।

करिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति है ।[1] वैसे तो भरत की प्रसिद्धि भी नाट्यसूत्रकार के रूप में ही है । नाटक में रस का महत्त्व होने से उसने रससूत्रों की भी रचना की । किन्तु अलङ्कारसूत्रों की रचना भरत ने नहीं की है न उसकी प्रसिद्धि भी अलङ्कारशास्त्री के रूप में है । अतः विद्याभूषण आदि ने, विशेषकर वङ्गीय पण्डितों ने, जो वृत्तिकार तथा सूत्रकार को विभिन्नता मानने का प्रयास किया है वह प्रयासमात्र है । उसमें कोई तथ्य नहीं है ।[2]

यहाँ पर एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये । यद्यपि आचार्य मम्मट ने ही कारिकाओं की रचना की है तथापि उन्होंने समस्त कारिकाएँ नूतन नहीं रची हैं । अन्यों की रचित कारिकाएँ भी कहीं-कहीं अविकल रूप में तो कहीं पर कुछ परिवर्तन के साथ अपने ग्रन्थ में अन्तर्भूत की हैं । यथा—का. प्र. झ. पृ. ९८ की "शृङ्गारहास्यकरुण." इ. कारिका तथा पृ. १११ की "रतिर्हासश्च शोकश्च." इत्यादि कारिका भरतनाट्यशास्त्र से, एवं पृ. ४०६ की "कर्णावतंसादिपदे." इ. कारिका वामन के अलङ्कारसूत्रवृत्ति से अविकल रूप में उद्धृत की हैं । इसी प्रकार पृ. ११२ की व्यभिचारिभावों के नाम बतलाने वाली "निर्वेदग्लानिशङ्काख्याः" इ. कारिकाएँ "प्रयान्ति रसरूपताम्" इस भरतसूत्र के अंश को "समाख्यातास्तु नामतः" इस रूप से परिवर्तित कर अपने सूत्रों में अन्तर्भूत कर ली हैं ।

३– क्या सम्पूर्ण काव्यप्रकाश के रचयिता केवल मम्मट है ?

काव्यप्रकाश के अन्त में यह पद्य उपलब्ध होता है––

"इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः ॥"

इस पद्य पर प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र अपने "संकेत" में लिखते हैं ।

"अथ 'चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण समापितः
इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते ।"[3]

सोमेश्वर भट्ट अपनी काव्यादर्श (या संकेत) टीका में लिखते हैं !

"अथ च सुधियां विकासहेतुर्ग्रन्थोऽयं कथंचिदपूर्णत्वादन्येन
पूरितशेष इति द्विखण्डोऽपि" इ. ।

---

१. दे. हि. सं. पो. पृ. २६०
२. दे. का. प्र. झ. भू. पृ, ११ ।
७. दे. मा. चं. संकेत पृ. ३०४ ।

राजानक आनन्दरचित निदर्शना टीका में लिखा है :

"कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा ॥"

अर्थात् आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना परिकर अलङ्कार तक ही की थी। पश्चात् अलकसूरि ने इस ग्रन्थ की परिपूर्ति की है। राजानक आनन्द का समय १६६५ ई. का है।[1] अर्थात् माणिक्यचन्द्र से लेकर इस बात की प्रसिद्धि थी कि काव्यप्रकाश यह रचना "द्विखण्ड" है और दो व्यक्तियों की रचना है। इसी अन्तिम पद्य की व्याख्या के समय राजानक आनन्द की व्याख्या में लिखा है :

अन्येनाप्युक्तम् :- "काव्यप्रकाशदशकेऽपि निबन्धकृद्भ्यां ।
द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसतत्वलाभः ।
लोकेऽस्ति विश्रुतमिदं नितरां रसालं,
बन्धकाररचितस्य (कलमी इ. भाषायाम्) तरोः फलं यत् ॥[2]

काव्य प्रकाश की ई. ११५८ की एक पाण्डुलिपि में, जिसकी जानकारी डॉ. एस. आर. भांडारकर ने दी है, समाप्ति की पङ्क्ति इस प्रकार है—

कृती राजानकमम्मटालकयोः ।

अमरुशतक के टीकाकार श्री अर्जुनवर्मदेव ने पृ. २९ पर पद्य ३० "भवतु विदितं." इ. की व्याख्या में कहा है :—

"यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां" "प्रसादे वर्तस्व" इ.[3] । तथा आगे ७२ वें पद्य "लीलातामरसाहतो". इ.[4] पर लिखते हैं —

"अत्र केचिद्वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ। किन्तु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी" इ. । "लीलातामरसा. इ. पद्य का उदाहरण काव्यप्रकाश झ. पृ. २७८ पर दिया गया है । अर्जुनवर्मदेव धारापति भोज के पश्चात् १३ वीं पीढ़ी के थे । तथा इनके उत्कीर्ण लेख १२११-१६ इ. तक के प्राप्त होते हैं । अतः लगभग १५० वर्षों में आचार्य मम्मट सरस्वती के अवतार माने जाने लगे थे । अर्जुनवर्मदेव के उपरोक्त कथन से यह भी प्रतीत

१. दे. हि. सं. पो. पृ. २६० ।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. ८ ।
३. दे, का. प्र. झ. पृ. ४३८ ।
४. दे. ज. रा. ए. सो. १९२७ पृ. ५०५-२० ।

होता है कि राजानक अलक ने केवल १० वाँ उल्लास ही नहीं अपितु ७ वाँ उल्लास भी रचा था। अथवा यह भी हो सकता है कि, परम्परा से, काव्यप्रकाश की रचना में अलकसूरि ने सहयोग दिया है। यह तथ्य ज्ञात होने पर, अर्जुनवर्मदेव ने उसे सम्पूर्ण ग्रन्थ के रचयिता के रूप में भी मान लिया होगा।

डॉ. हरि रामचन्द्र दिवेकरजी ने जनरल ऑफ एसीयाटिक सोसायटी में एक लेख लिखकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आचार्य मम्मट ने केवल परिकर अलङ्कार तक के सूत्रग्रन्थ की रचना की है और अवशिष्ट सूत्रग्रन्थ तथा संपूर्ण वृत्तिग्रन्थ अलकसूरि की रचना है। किन्तु म. य. काणे के अनुसार, उक्त मत के समर्थन में डॉ. दिवेकरजी द्वारा दिये हुए हेतु कहीं-कहीं काल्पनिक (सब्जेक्टिवः Subjective) हैं तथा समस्त तर्क विश्वासोत्पादक नहीं हैं।[1]

यद्यपि काव्य-प्रकाश की बहुसंख्य पाण्डुलिपियों में "अलक" नाम का उल्लेख आता है तथापि डॉ. स्टीन (Stein) के अनुसार वह नाम "अल्लट" होना चाहिये। क्योंकि काश्मीरी पण्डितों में "अल्लट" जैसा ही नाम होना ठीक प्रतीत होता है। काव्यप्रकाश के द्विकर्तृत्व की प्रसिद्धि काश्मीरियों में ही अधिक फैली है। इसी कारण से कर्नल जेकब ने भी "अलक" के स्थान में "अलट" नाम को ही अधिक शुद्ध समझा है।[2] किन्तु म. म. काणेजी को यह विचारधारा मान्य नहीं है। वे पण्डित परम्परा की अपेक्षा प्राचीन पाण्डुलिपियों को अधिक महत्व देते हैं। एक पाण्डुलिपि तो, जिसमें "अलक" का उल्लेख आया है, ११५८ ई. की है। "अलक" यह नाम भी "अल्लट" या "अलट" इतना ही काश्मीरी हो सकता है। "क" में अन्त होने वाले भी अनेक काश्मीरी नाम प्रसिद्ध हैं। जैसे कुन्तक, मङ्खक, शंकुक इ.। इण्डियन एण्टीक्वेरी सन् १९२९ के पृ. १६१ पर मेवाड़ के राजा अल्लट के समय का एक उत्कीर्ण लेख छपा है जिस पर संवत् १०१० का उल्लेख है। इसमें एक मम्मट का अमात्य के रूप में उल्लेख है।[3] इससे यह भी सिद्ध होता है कि "अल्लट" "मम्मट" आदि नाम भी केवल काश्मीरियों में ही नहीं हुआ करते थे। विद्याचक्रवर्ती ने संप्रदायप्रकाशिनी में "इत्येष मार्गो", इत्यादि अन्तिम श्लोक पर लिखा है :

---

१. दे. हि. सं. पो. पृ. २६१।
२. दे. ज. आर. ए. सो. १८९७ पृ. २८२।
३. दे. हि. सं. पो. पृ. २६१-६२ टिप्पणी।

मन्मथग्रन्थशेषं परिपूरितवतोऽयमलर्कस्य स्वापेक्षः श्लोकः ।[२]

अतः "अलकसूरि" यह नाम ग्राह्य होना चाहिये ।[२] श्री वामनाचार्यजी ने इसे "अल्लटसूरि" ही माना है। इसे राजानक जयानक का पुत्र तथा रत्नाकर रचित हरविजयकाव्य पर लिखी "विषमपदोद्योत" टिप्पणी का रचयिता माना है ।[३]

●

---

१. दे. भाग २ पृ. ४४९ । सम्प्रदाय प्र. ।
२. दे. हि. सं. पो. पृ. २६२ ।
३. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ८ ।

अध्याय – ४

काव्यप्रकाश का अन्तरङ्ग

१– काव्यप्रकाश के प्रतिपाद्य विषय :

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के विभागों को "उल्लास" की संज्ञा दी है, जिनकी रचना उन्होंने स्वरचित "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" इस काव्यलक्षण के अनुसार की है। इन दसों उल्लासों का परिमाण एक-सा नहीं है। कुछ उल्लास छोटे हैं। जैसे तीसरा (अर्थव्यञ्जकता का प्रदर्शन करने वाला) तथा छठा (शब्दार्थचित्रों का निरूपण करने वाला)। दसवें उल्लास में ("बाल". टीका के सहित) लगभग २५० पृष्ठ हैं तो छठे उल्लास में केवल छह। अन्य उल्लास २८ पृष्ठों से लेकर १९८ पृष्ठों तक विस्तारयुक्त हैं। इन दसों उल्लासों में वर्णित विषयों का स्वरूप इस प्रकार है।

प्रथम उल्लास (काव्य-प्रयोजन-कारण-स्वरूप विशेष निर्णय) :

सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने विघ्नविघात के हेतु शिष्टपरम्परा से प्राप्त तथा प्रकृत विषय के लिए उपयुक्त "कविभारती" का जयजयकार करके मङ्गलकार्य का सम्पादन किया है। इसमें कविभारती की, ब्रह्मा की निर्मिति से तुलना करके उसका (क. भारती का) उत्कर्ष दिखाया है। पश्चात्, काव्य के लिए निर्मित इस ग्रन्थ का प्रयोजन काव्य के प्रयोजन से ही गतार्थ होता है। इस अभिप्राय से काव्यप्रयोजनों का वर्णन किया है। इन प्रयोजनों में प्रमुख प्रयोजन "सद्यः परनिर्वृति" को भी स्पष्ट करके बतलाया है। तदनन्तर काव्य-निर्मिति के साधनों की, शक्ति, निपुणता और अभ्यास की, चर्चा की है। इस प्रकार काव्य-चर्चा को सप्रयोजन तथा हेतुयुक्त सिद्ध करने के पश्चात् काव्य का लक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" बतलाकर उसकी संक्षिप्त तथा सोदाहरण व्याख्या की है। व्यङ्ग्यार्थ को आधार मानकर इस काव्य के भेद उनके स्वरूप तथा संज्ञाओं के साथ स्पष्ट किये हैं। ये संज्ञाएँ हैं ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा शब्दचित्र और वाच्यचित्र। इन्हींको क्रम से "उत्तम", "मध्यम" तथा "अवर" भी कहा है। साथ ही प्रत्येक का एक-एक उदाहरण देकर प्रथम उल्लास की समाप्ति की है।

द्वितीय उल्लास : (शब्दार्थ स्वरूप निर्णय)

प्रथम उल्लास में वर्णित काव्यलक्षण की ठीक-ठीक जानकारी के लिए सर्वप्रथम "शब्द" और "अर्थ" का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। अतः "शब्द" के "वाचक", "लक्षक" और "व्यञ्जक" तीन भेद और अर्थ के भी "वाच्य" "लक्ष्य" और "व्यङ्ग्य" ये तीन भेद दिखाये हैं। साथ ही "तात्पर्यार्थ" को मानने वाले मीमांसकों का भी उल्लेख किया है। पश्चात् ये वाच्यादि तीन अर्थ व्यञ्जक भी होते हैं यह उदाहरणों से स्पष्ट करके दिखाया है। तदनन्तर वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक शब्दों का स्वरूप बड़े विस्तार के साथ और शास्त्रीय चर्चा करते हुए स्पष्ट किया है। इसी सम्बन्ध में जाति-शक्तिवादी मीमांसकों के तथा उपाधिशक्तिवादी वैयाकरणों के मत का भी निर्वचन किया है। नैयायिक तथा बौद्धमत का केवल उल्लेख किया है। लक्षणा का भी विस्तार से, उसके भेदों तथा उदाहरणों के साथ वर्णन किया है। एवं प्रयोजनवती लक्षणा से प्रतीत होने वाला प्रयोजन व्यङ्ग्य होकर वह व्यञ्जनाव्यापार से ही गम्य है यह भी सिद्ध किया है। आगे चलकर व्यङ्ग्य लक्षणावृत्ति से प्रतीत नहीं हो सकता यह बात अनेक युक्तियों से सिद्ध की है। सूत्र ३२ में अभिधामूलव्यञ्जना का स्वरूप दिखा कर अनेकार्थक शब्दों के अर्थों का नियमन करने वाले "संयोग", "विप्रयोग" आदि हेतुओं का उदाहरणों के द्वारा स्पष्टीकरण करते हुए "अभिधामूल व्यङ्ग्यार्थ" का स्वरूप सुस्थिर किया है तथा उदाहरण के द्वारा उसे बुद्धिगम्य कराया है। शब्दमूल व्यञ्जना में केवल शब्द व्यञ्जक न होकर उसका अर्थ (मुख्यार्थ) भी उस व्यापार में सहकारी होता है। यह बात बतलाकर उल्लास की समाप्ति की हैं।

तृतीय उल्लास : (अर्थव्यञ्जकतानिर्णय)

यह उल्लास बहुत छोटा है। इसमें वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्य अर्थों की व्यञ्जकता के उदाहरण दिये हैं। वाचक अर्थ जब व्यञ्जक होता है तब उसमें वक्ता की, बोद्धव्य की, काकु इत्यादि की अनेक विशेषताएँ सहकार्य देती हैं। यह बात विविध उदाहरण देकर स्पष्ट की है। लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता के उदाहरण भी इसी प्रकार से समझ लेने को कहा है। अन्त में यद्यपि "अर्थ" को व्यञ्जक माना है तथापि वह शब्द के द्वारा ही ज्ञात होता है। अतः उस प्रतीति में शब्द को सहकारी माना जाय इतना कहकर आचार्य मम्मट ने उल्लास की समाप्ति की है। (द्वितीय उल्लास में संक्षेप से वर्णित अर्थव्यञ्जकता का ही विस्तार इसमें किया है।)

चतुर्थ उल्लास : (ध्वनि निर्णय)

इस प्रकार काव्य-लक्षण में विद्यमान "शब्दार्थों" का निर्णय कर चुकने के बाद यथाक्रम दोष गुण आदि का स्वरूप कथन करता क्रमप्राप्त था। किन्तु दोष, गुण आदि जिसके धर्म हैं उस धर्मी काव्य का स्वरूप जब तक समझ में नहीं आता है तब तक दोष, गुण आदि धर्म का ज्ञान ठीक तरह से नहीं हो सकता। अतः धर्मी काव्य का स्वरूप इस उल्लास में वतलाया गया है। सर्वप्रथम ध्वनि-काव्य का अर्थात् व्यङ्ग्यचमत्कार जिसमें वाच्य से अधिक होता है उसका वर्णन उसके भेद-निरूपण के साथ किया है। अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद दिखलाये हैं। तत्पश्चात् विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रस) ध्वनि और लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम ध्वनि ऐसे दो भेद माने हैं तथा द्वितीय ध्वनि (लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम) के शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ तथा उभयशक्त्युत्थ तीन भेद मानकर पुनरपि वस्तु तथा अलङ्कार रूप से तथा स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध रूप से उसे पद-वाक्य-प्रबन्धगत माना है। तथा रसध्वनि को भी पद-पदांश-वर्ण-वाक्य-प्रबन्ध-रचना रूप से छह प्रकार मान कर शुद्ध ध्वनि के ५१ तथा उन्हीं के त्रिविध संकर तथा एकविध संसृष्टि के द्वारा १०४५५ भेद माने हैं। इन ध्वनिभेदों की गणना के पूर्व रसध्वनि का विवरण करते समय आचार्य मम्मट ने रस की व्याख्या, भरत के इस सूत्र का भट्टलोलट, शकुक, भट्टनायक आदि विविध आचार्यों के अनुसार दार्शनिक दृष्टिकोण से विवेचन तथा स्वयं को अभिमत रसव्यञ्जना के सिद्धान्त का, जिसकी स्थापना अभिनवगुप्त ने की है, वर्णन विस्तार के साथ दिया हैं। पश्चात् शृङ्गारादि आठ नाटकीय रसों का विभावादि के वर्णन तथा उदाहरणों के साथ स्वरूप बतलाया है। तदनन्तर ३३ व्यभिचारिभावों की सूचि परिचयमात्र के हेतु दी है। नाटक में अप्रयुज्यमान किन्तु रसरूप से स्वीकृत निर्वेद स्थायिभाववाले शान्तरस का निर्देश उदाहरण के साथ करके भाव रसाभास और भावाभास का भी परिचय दिया है। पश्चात् भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का स्वरूप बतलाया है। इसके उपरान्त उपरोक्त ध्वनिभेदों के, सविस्तार उदाहरण देकर उल्लास की समाप्ति की है।

पञ्चम उल्लास : (ध्वनि-गुणीभूत व्यङ्ग्य संकीर्ण भेद निर्णय)

इस उल्लास में ध्वनिप्रपञ्च के बाद क्रमप्राप्त मध्यम काव्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य के अगूढ़, अपराङ्ग आदि ८ भेदों का निरूपण किया है। साथ ही रसवत्, प्रेय आदि को अलङ्कार न मानकर गुणीभूतव्यङ्ग्य में ही उन्हें अन्तर्भूत करने को

कहा है। पश्चात् इस गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी ध्वनि के समान ही भेद किये हैं, जिनकी संख्या का विस्तार अत्यधिक (टीकाकार के अनुसार ३४,०६,२३,९००) अर्थात् ३४ करोड़ से भी अधिक होता है।

इसके बाद समस्त व्यङ्ग्यप्रपञ्च का वाच्यतासह, चित्र अचित्र आदि रूप में प्रकारान्तर से भेद प्रदर्शन करते हुए व्यञ्जना-व्यापार का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व सिद्ध किया है । वैसा करते समय मीमांसकों के आक्षेपों का उन्हीं के सिद्धान्तों को लेकर भलीभाँति खण्डन किया है । यह विवेचन शास्त्रार्थ चर्चा में रूचि रखने वालों को आकर्षित करने वाला है । अन्य प्रकार से भी आक्षेपों को उत्थापित कर उनका निराकरण करते हुए व्यङ्ग्यार्थ का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ की अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध कर दिखलाया है। वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद के विविध कारणों का उदाहरण देकर विस्तार से विवेचन किया है । इसके उपरान्त व्यङ्ग्यार्थ का लक्षणीय अर्थ में अन्तर्भाव क्यों नहीं किया जा सकता इसका भी उत्तर सयुक्तिक रूप से दिया है । वेदान्तियों के मत से भी व्यवहारदशा में स्वतन्त्र रूप से व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव को स्वीकार करना आवश्यक है यह बतलाते हुए प्रकरण के अन्त में व्यङ्ग्यप्रतीति का अनुमान में अन्तर्भाव करने वाले महिमभट्ट का खण्डन कर उल्लास की समाप्ति की है।

षष्ठ उल्लास। (शब्दार्थचित्रनिरूपण)

यह उल्लास बहुत संक्षिप्त है। उत्तम तथा मध्यम काव्य के स्वरूपदर्शन के पश्चात् अवशिष्ट "अवर" काव्य का, शब्दचित्र तथा वाच्यचित्र का, स्वरूप इस उल्लास में दिखाया है। वस्तुतः ये भेद शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार स्वरूप ही हैं। अतः इनका विस्तृत निरूपण नवम तथा दशम उल्लास में आता है । शब्दालङ्कार में अर्थ और अर्थालङ्कार में शब्द गौण रूप से रहता हैं। यह तथ्य भी स्पष्ट कर दिया है। इसी स्थान पर प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों का मतभेद, दिखा कर (जिसके अनुसार केवल शब्दालङ्कारों की अथवा अर्थालङ्कारों की स्वीकृति अभिमत है) स्वमत का प्रतिपादन किया है । आचार्य मम्मट दोनों ही प्रकारों के अलङ्कार मानते हैं । अन्त में इस काव्य-प्रकार को "अव्यङ्ग्य" क्यों कहा है इसका स्पष्टीकरण करते हुए उल्लास की समाप्ति की है।

सप्तम उल्लास : (दोषदर्शन)

इस प्रकार काव्य-स्वरूप का निरूपण हो चुकने पर क्रमप्राप्त दोषों का स्वरूप इस उल्लास में बतलाया है। दोषों का "प्रधान अर्थ का हनन करने वाले धर्म" ऐसा सामान्य लक्षण करते हुए सोलह पददोषों को उदाहरणों के साथ समझाया है। आगे चलकर इन्हीं सोलह पददोषों के नाम से आने वाले वाक्य-

दोषों का विवेचन किया है। उन्हीं में से कुछ दोष पदांशदोष के रूप में बतलाये हैं। इसके बाद केवल वाक्यदोष के रूप में आने वाले दोषों का निरूपण किया है। इनकी संख्या २१ है। अब अर्थदोषों का क्रम आता है। अपुष्टार्थता, कष्टार्थता आदि उनके नाम हैं तथा संख्या २३ है। इस प्रकार दोषों के निरूपण के पश्चात् वे कब "अदोष" होते हैं और कब "गुण" इसका प्रदर्शन किया है।

साक्षात् "रस" का विरोध करने वाले "रसदोषों" का प्रकरण अन्त में उठाया है। इन रसदोषों की संक्या १३ बतलायी है। उदाहरणों के द्वारा उन्हें स्पष्ट भी कर दिखाया है। "प्रकृतिविपर्यय" दोष का निरूपण करते समय– "प्रकृति" का भी विस्तार से स्वरूप दर्शन कराया है। रसों का आपस में विरोध तथा अविरोध आदि का भी विवेचन किया है। अन्त में इन रसदोषों का भी "अदोषत्व" तथा "गुणत्व" कब होता है यह दिखा कर उल्लास की समाप्ति की है।

अष्टम उल्लास : (गुणालङ्कारभेद-नियत-गुणनिर्णय)

इस उल्लास में गुणों का निरूपण करना क्रमप्राप्त है। तथापि भट्टोद्भट जैसे कुछ आलङ्कारिक गुण और अलङ्कारों को भिन्न-भिन्न नहीं मानते हैं। अतः गुण और अलङ्कार में भेद दिखलाने की चेष्टा पहले की है। "अलङ्कार" तथा "गुण" का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वामन का "गुण" और "अलङ्कारों" का भेदकथन भी सदोष ठहराया है। तत्पश्चात् गुणों के माधुर्यादि अभिधान तथा उनकी संख्या निश्चित की है। उनके आश्रयभूत शृङ्गारादि रसों को क्रमिक रूप से निर्दिष्ट किया है। वस्तुतः "रसधर्म" गुणों की स्थिति "शब्दार्थं में" किस प्रकार मानी गई है वह भी स्पष्ट किया है। तदन्तर वामन के माने हुए शब्द के १० तथा अर्थ के १० गुणों का स्वरूप बतलाकर शब्द के तीन गुणों को ही स्वीकार किया है। अवशिष्ट ७ शब्दगुणों और १० अर्थगुणों का अन्तर्भाव अन्य स्वीकृत गुणों में, दोषाभाव में, स्वभावोक्ति अलङ्कार में तथा रसध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य में करके बतलाया है। कुछ गुणों का (जैसे समाधि इ.) तो गुणत्व ही स्वीकृत नहीं किया है। इसके उपरान्त स्वीकृत ओज, प्रसाद तथा माधुर्य इन तीन गुणों के व्यञ्जक वर्ण, समास और रचना का स्वरूप स्पष्ट किया है और उनके उदाहरण दिये हैं। इसी के साथ यह भी स्पष्ट किया है कि वर्ण, रचना आदि यद्यपि गुणपरतन्त्र रहते हैं, तथापि कभी-कभी वक्ता, विषय, ग्रन्थस्वरूप आदि के कारण अन्य प्रकार से भी वर्णरचना आदि का गठन करना आवश्यक होता है। क्योंकि औचित्य का महत्व सर्वोपरि है। इतना कथन करके उल्लास की समाप्ति की है।

नवम उल्लास : (शब्दालङ्कारनिर्णय)

गुणनिरूपण के उपरान्त अलङ्कारों का ही क्रम आता है। उनमें भी प्रथम शब्दालङ्कारों का निरूपण युक्तिसंगत है। अतः इस उल्लास में जिन शब्दालङ्कारों का निरूपण किया है वे हैं वक्रोक्ति, (२ प्रकार), अनुप्रास (५प्र.), यमक (अनेक प्र.), श्लेष (९ प्र.), चित्रकाव्य (अनेक प्र.) और पुनरुक्तवदाभास (२ प्र.)। अनुप्रास के निरूपण के समय ही उपनागरिका, परुषा तथा कोमला इन तीन वृत्तियों का स्वरूप-दर्शन भी कराया है। वामन इन्हीं तीन वृत्तियों को क्रम से वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीति कहते हैं। यमक अलङ्कार के भी पाद-वृत्ति अर्धभागवृत्ति, इत्यादि अनेक प्रकार मान कर उसके स्वरूप को जटिल बना दिया है। किन्तु उदाहरणों के द्वारा समझाया भी है। श्लेष में भी ८ प्रकार के सभङ्गश्लेष तथा १ प्रकार का अभङ्गश्लेष वर्णित हैं। श्लेष का स्वरूप-दर्शन कराने के बाद अलङ्कारसर्वस्वकारादि के अनुसार श्लेष को अर्थालङ्कार क्यों नहीं माना जाय ? इस प्रश्न की चर्चा का आरम्भ किया है। उत्तर में यह बतलाया है कि दोष गुण, अलङ्कार में किसी के भी शब्दगतत्व अथवा अर्थगतत्व की व्यवस्था अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही होती है। इस दृष्टि से सभङ्ग और अभङ्ग दोनों श्लेष शब्दगत ही ठहरते हैं। शब्द परिवर्तन के पश्चात् भी जहां पर श्लेष रहता है, वह श्लेष अर्थालङ्कार मानना ठीक होगा। इसके पश्चात् यह भी प्रश्न उठाया है कि जहाँ पर श्लेष होता है वहाँ पर अवश्य ही अन्य अलङ्कार (उपमादि) भी होते हैं। फिर वहाँ श्लेष मानना अथवा अन्य अलङ्कार ? योग्य विचार के उप-रान्त इस प्रश्न की भी व्यवस्था दी है। इसी प्रसङ्ग में शब्दश्लेष को अर्थालङ्कार मानने पर अन्य आपत्तियाँ भी दिखायी हैं। चित्रकाव्य को "विलष्टकाव्य" कहकर उसके कुछ ही प्रकार बतलाये हैं। इसके बाद शब्दार्थोभयालङ्कार "पुनरुक्तवदाभास" के दो प्रकार निरूपित करके इस उल्लास की समाप्ति की है।

दशम उल्लास : (अर्थालङ्कारनिर्णय)

काव्य-स्वरूप के सम्पूर्ण निर्णय में अब केवल अर्थालङ्कार अवशिष्ट है। इस उल्लास में उनका निरूपण किया है। इनकी कुल संख्या ६१ है। आरम्भ में उपमा का तथा उपमामूलक उत्प्रेक्षा, रूपक आदि का तथा पश्चात् अन्य अलङ्कारों का सोदाहरण सप्रभेद निवेचन किया है। उपमा में पूर्णोपमा के ६ और लुप्तोपमा के १९ भेद माने हैं। इसी स्थान पर उपमा में प्रतीत होने वाला वैचित्र्य (सौंदर्य) व्यङ्ग्य होने पर भी इस अलङ्कारयुक्त काव्य को ध्वनि या गुणीभूत व्यङ्ग्य क्यों नहीं मानना चाहिए इसकी चर्चा की है, तथा निर्णय भी

दिया है । रूपक के साङ्ग, निरङ्ग, परम्परित तीन प्रमुख भेद तथा अन्य प्रभेद किये हैं। श्लिष्ट-परम्परित-रूपक को शब्दार्थोभयालङ्कार स्वीकृत किया है । निदर्शना के दो प्रकार माने हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा के पाँच भेद किये हैं । इसके कुछ प्रभेद भी किये हैं। अतिशयोक्ति के चार भेद किये हैं । दीपक के भी क्रियादीपक कारकदीपक एवं मालादीपक तीन भेद माने हैं । व्यतिरेक के २४ भेद किये हैं। आक्षेप दो प्रकार का है। विशेषोक्ति तीन प्रकार की है । अर्थान्तरन्यास के चार प्रकार किये हैं । विरोध अलङ्कार के दस प्रकार गिनाये हैं । विनोक्ति तथा परिवृत्ति के दो-दो भेद बतलाये हैं। काव्यलिङ्ग के तीन भेद हैं । पर्यायोक्ति का स्वरूप "विकल्प" का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है । उदात्त, समुच्चय, पर्याय, परिसंख्या, उत्तर आदि अलङ्कारों के भी दो-दो भेद माने गये हैं। "हेतु" अलङ्कार में चमत्कृति न होने से उसे माना नहीं है । असंगति का लक्षण एवं उदाहरण देकर उसका विरोध अलङ्कार से भिन्नत्व स्पष्ट किया है। विषय के चार प्रकार बतलाये हैं। प्रत्यनीक अलङ्कार का शब्दार्थ स्पष्ट करके बतलाया है। अधिक, मीलित, एकावली, प्रतीत आदि के भी दो-दो प्रकार किये हैं। "विशेष" अलङ्कार के तीन प्रकार हैं । शब्दालङ्कारों, अर्थालङ्कारों और शब्दार्थालङ्कारों के भेद से संसृष्टि भी तीन प्रकार की है । संकर अङ्गाङ्गिभाव, संदेह और एकाश्रयानुप्रवेश रूप से तीन प्रकार का है । इन तीनों प्रकारों का विवेचन भी विविध उदाहरणों के द्वारा किया है। अन्त में फिर से अलङ्कारों के शब्दार्थगतत्व का निर्णायक अन्वयव्यतिरेकों को मानकर उनका स्पष्टीकरण किया है। दोष प्रकरण में अलङ्कार-दोषों का निरूपण नहीं किया था । किन्तु यहाँ पर उन्हें दिखलाते हुए उक्त दोषों में ही वे अन्तर्भूत कर दिये हैं । अर्थात् अलङ्कार-दोषों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषों में ही होता है। इस प्रकार काव्य के लक्षण की व्याख्या पूर्ण करके इस दसवें तथा अन्तिम उल्लास की समाप्ति की है और काव्यप्रकाश ग्रन्थ की भी समाप्ति हुई है।

२–आचार्य मम्मट की प्रतिपादनशैली :

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश की रचना कुछ नये ढंग से की है। इनके पूर्व साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रायः पद्य में लिखे गये थे। आचार्य भामह, आचार्य दण्डी, आचार्य रुद्रट आदि के ग्रन्थ संपूर्ण पद्य के रूप में हैं । (केवल भरतमुनि का नाट्य शास्त्र कहीं-कहीं गद्य मिश्रित है।) इन ग्रन्थों में उदाहरण भी कहीं कहीं स्वकृत तथा कहीं कहीं अन्य स्थान से लिये हुए हैं किन्तु वे प्रायः मूलग्रन्थ के अभिन्न अङ्ग-से हो गये हैं। इन ग्रन्थों के व्याख्याता प्रायः अन्य पण्डित हैं जिनकी रचित व्याख्याएँ गद्य में मिलती हैं । आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ की रचना

"कारिका (सूत्र)-वृत्ति-उदाहरण" रूप में की है । कारिकाओं का स्वरूप यद्यपि पद्यात्मक है तथापि उनकी रचना सूत्रात्मक अर्थात् संक्षिप्तार्थसूचक है। श्री वामनाचार्य झलकीकर ने भी इन्हें सूत्र ही कहा है। पद्य की पूर्णता के लिए अनावश्यक शब्दों की भरती इनमें नहीं की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक ही कारिका के मध्य ही अन्य लक्ष्य का लक्षण आरम्भ करना पड़ा है, अथवा एक लक्ष्य के लक्षण बनाने में डेढ, ढाई ऐसी कारिकाएँ लगायी गयी हैं।[1]

"वृत्तिग्रन्थ" भी अपने नाम के अनुसार अतिसंक्षेप में है। जैसे पाणिनि-सूत्रों की वृत्ति। उदाहरण प्रायः अन्यस्थानों से संग्रह किये हैं, तथा आवश्यकता पड़ने पर उनके समन्वयार्थ फिर वृत्ति ग्रन्थ की रचना की है। बहुत से स्थानों पर तो अनेक बातों को आचार्य मम्मट ने पाठकों की सूझ पर छोड़ दिया है। उनका विवेचन, समन्वय आदि करने का प्रयास नहीं किया है। पाठक की बुद्धिमता पर आचार्य का बहुत भरोसा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक "व्याख्येय" अंशों की व्याख्या विभिन्न टीकाकारों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अलग अलग की है। उदाहरण के लिए पृ. ४६ का "अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्" आदि अंश की व्याख्या देखी जा सकती है, तथा पृ. २०१ "एते च रसवदाद्यलङ्कारा:। यद्यपि......." इत्यादि पङ्क्ति; पृ. ५६२ का पूर्वापरविरुद्धाभिधान" आदि भी देखे जा सकते हैं।

अर्थप्रतिपादन शास्त्रीय शैली में किया है। वैयाकरण, मीमांसक, नैयायिक आदि दार्शनिकों को अपना भाव समझाने के लिए आचार्य मम्मट ने उनकी अभिमत प्रक्रिया को लेकर ही यह कार्य किया है।[2] भाषा में केवल आवश्यक विस्तार करने की दृष्टि से जो क्लिष्टता आयी है उसी से पाठक को जूझना पड़ता है। नव्यतार्किकों की "अवच्छेदकावच्छिन्न" प्रक्रिया के कारण आने वाली कृत्रिम क्लिष्टता (यथा रसगङ्गाधर की काव्यलक्षण की व्याख्या) इसमें बिलकुल नहीं आयी है। यह क्लिष्टता भी "श्रीहर्ष" के समान ("ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्

---

१. दे. "परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिर्निदर्शना । अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः" । का. ९६ । तथा "यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता । तदाकारणमाला स्यात्....क्रियया तु परस्परम् । वस्तुनोर्जननेऽन्योऽन्यम्" । का. १२० । आदि । का. प्र. झ. ।

२. दे. पृ. २१७ से किया जानेवाला व्यञ्जनावृत्ति की पृथकता का विवेचन। इसमें मीमांसापद्धति का दर्शन होता है। पृ. २५२-५३ पर न्यायपद्धति के तथा पृ. ३२१ पर व्याकरणपद्धति के दर्शन होते हैं।

क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया इ.") सहेतुक नहीं है। अपितु आचार्य मम्मट की शास्त्राध्ययन-परिष्कृत-प्रतिभा का वह अपेक्षित परिणाम है। ऐसे महाबुद्धिमानों के कथन, उक्तियां, आदि सदैव "व्याख्यासापेक्ष" होते हैं। उनके उक्ति-गागर में अर्थ-सागर भरा रहता है। आचार्य मम्मट को वाग्देवतावतार समझा जाना भी इसी का द्योतक है। इसी कारण आचार्य महेश्वरभट्ट के अनुसार काव्यप्रकाश की टीकाएं "गृहे-गृहे" होने पर भी वह "दुर्गम" ही रहा है।[1]

इन दुर्गमताओं की ओर तथा व्याख्या-सापेक्ष अंशों की ओर कुछ इङ्गित कर देना ठीक रहेगा। आचार्य मम्मट की शैली के सम्बन्ध में आरम्भ में किया जाने वाला यह दोष-निर्देश सूची-कटाह न्याय से है। दे. का. प्र. झ.।

(१) पृ. ३८ "तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः।"

(२) पृ. २६-२७ "अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादियों के मत।"

(३) पृ. ५४ "लक्षणा तेन षड्विधा।"

(४) पृ. ६० "न च शब्दः स्खलद्गतिः।"

(५) पृ. ६१ "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।"

(६) पृ. २१४ "सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टि संकरैः।"

(७) पृ. ५८४ पर उत्प्रेक्षा के लक्षण में "संभावनम्" शब्द।

(८) पृ. ६८०-८१ पर का कारिका में दिया हुआ "पर्यायोक्त" का लक्षण तथा उसका वृत्तिग्रन्थ। इस प्रकार अनेक "स्थल" उदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं। इन स्थलों पर आवश्यक वृत्तिग्रन्थ हैं ही नहीं और यदि हैं तो अतिसंक्षिप्त हैं, जो कल्पना स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

इस ग्रन्थ में, मुद्रण के विशिष्ट ढंग के कारण भी क्लिष्टता आ गयी है। आचार्य झलकीकरजी की "बालबोधिनी" के साथ मुद्रित काव्यप्रकाश (भंडारकर ओरिएन्टल रि. इ. द्वारा प्रकाशित) यद्यपि सुवाच्य अक्षरों में, शुद्धता के साथ, छपा है तथापि उसमें विराम चिन्हों का उपयोग बड़ी कंजूसी के साथ किया गया है। केवल "पूर्ण विराम" के चिन्ह का उपयोग किया गया है। आवश्यक स्थलों पर यदि "स्वल्प विरामों का भी प्रयोग किया जाता तो अर्थ लगाने में कुछ सहायता अवश्य मिलती। चौ. सं. सिरीज द्वारा "सुधासागर" तथा "तिलक" के

१. का. प्र. झ. भू. पृ. ३०।

साथ छपा हुआ काव्यप्रकाश तो कागज, छपाई, टाईप आदि के कारण भी "दुरूह" हो गया है । तथापि उसमें "स्वल्पविरामों" का प्रयोग अवश्य किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में "मौलिक" क्लिष्टता के साथ-साथ "कृत्रिम" क्लिष्टता का भी समावेश हो गया है। इसके उदाहरण के रूप में (का.प्र.झ. के) पृ. ४२-४३, ८७-९५, २४२-२४४, ४६१-४६५ आदि हैं । अस्तु यह एक विषयान्तर-सा होगया है।

कहीं-कहीं सूत्र वृत्ति आदि की रचना सन्तोषजनक प्रतीत नही होती। यथा :

(१) पृ. ११ (१) पर – "शक्तिर्निपुणता — इति हेतुस्तदुद्भवे ।" इस सूत्र में एक अर्थ का विधान नहीं है। "निपुणता के कारण का, "अभ्यास" के कारण का तथा "काव्यहेतुओं" का ऐसे तीन अर्थों का विधान है। किन्तु वाक्य एक होने से एक ही अर्थ का विधान सुसंगत है। अन्यथा तीन वाक्यों की अपेक्षा है। इसमें "अविमृष्टविधेयांशता" दोष की झलक प्रतीत होती है।

(२) पृ. १३ पर – सुप्रसिद्ध काव्यलक्षण में "अनलङ्कृती पुनःक्वापि" अंश का आचार्य मम्मट ने जिस ढंग से व्याख्यान किया है ("सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः ।") यह अर्थ "अनलङ्कृती" से स्वाभाविक रूप से प्रकट नहीं होता है। सीधा अर्थ तो "यदि कहीं पर अलङ्कार न हो तो भी" यही होना चाहिये । किन्तु "नञर्थों" के छः प्रकार वाला शास्त्रार्थ कर के "ईषत्" समानार्थक "अस्फुट" मानकर आचार्य मम्मट के अर्थ का टीकाकारों ने समर्थन किया है। किन्तु इस अर्थ से अलङ्कारों का अस्तित्व अनिवार्य हो जाता है। (स्फुट अथवा अस्फुट अलङ्कार का)। फिर जिस काव्य में केवल रस है और अलङ्कार नहीं है उसको काव्य नहीं माना जा सकेगा। किन्तु "बालबोधिनी" पृ. १७ पर ऐसे पद्य को काव्य माना गया है। अर्थात् काव्यलक्षण में "अनलङ्कृती" पद कुछ अव्यवस्था का निर्माण करता है।

(३) पृ. ७२ पर – "अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषामर्थव्यञ्जकतोच्यते।" इस सूत्र में "तेषाम् यह सर्वनाम पूर्वनिर्दिष्ट "अर्थो" का परामर्श कर सकता है। फिर अर्थों की "अर्थव्यञ्जकता" कैसी ? आचार्य मम्मट ने वृत्ति में "तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम्" ऐसा लिखकर "तेषाम्" का अर्थ "वाचकादिशब्दानाम्" किया है तथा आगे के अंश में संगति का निर्माण किया है। "सर्वनाम्नां बुद्धि-स्थप्रकारावाच्छिन्ने शक्तिः" ऐसा न्याय भी है। किन्तु प्रस्तुत स्थल में इस प्रकार का व्याख्यान शब्द की स्वाभाविक अर्थप्रतिपादनशक्ति पर आघात ही है।

---

(१) यह तथा आगे दिये हुए पृष्ठ का. प्र. झ. के हैं।

(४) पृ ९८ पर – "शृङ्गारहास्य — त्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥" इस कारिका में विद्यमान "नाट्ये" पद की क्या आवश्यकता है ? यदि भरत की कारिका में (जो यहाँ पर अविकल रूप से उद्धृत है) यह पद होने से यहाँ पर भी वह आ गया है, तो फिर "यथाह भरतः" आदि लिखकर सुसंगति का निर्माण करना चाहिये था।

(५) पृ. १०६ पर – हास्यादि रसों के केवल क्रम से उदाहरण दे दिये है। उनका समन्वय आदि करके नहीं दिखाया है। तथा–

(६) पृ. ११२ – पर संचारिभावों की केवल सूची दे रखी है। उनके भी उदाहरण आदि नहीं दिये हैं।

(७) पृ. २०६ पर – "अभिमरति – प्रसह्य कुरूते विषं वियोगिनीनाम्"। इस उदाहरण में "हालाहलरूप व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि करता है।" यह आशय प्रतिपादन करते समय "विष" शब्द को "जल" वाचक मानकर उसका व्यङ्ग्यार्थ 'हालाहल' माना है।[1] किन्तु अमरकोष आदि में 'विष' का यद्यपि जल अर्थ भी दिया है तथापि प्रथम प्रतीति में आने वाला अर्थ तो 'हालाहल' ही है। अतः यहाँ पर जल के अर्थ में विष का प्रयोग करना "शोणितकचेन" जैसा निहतार्थतादोषयुक्त ही है।[2]

(८) पृ. २१४ पर –"सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः।" में 'सालङ्कारैः' की "वृत्तिग्रन्थ" में की हुई व्याख्या (सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः) अर्थ का ज्ञान सरलता से नहीं कराती है। शब्द के सामासिक अर्थ के साथ कलाबाजी करके ही अर्थ निकालना पड़ता है।[3]

(९) पृ. ५२९ पर – "तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।" इस लक्षण के अनुसार दिये उदाहरणों को खड्गादि के आकार में रखकर बतलाने पर ही उनका "उदाहरणत्व" सिद्ध होगा। केवल पद्यों का उल्लेखमात्र कर देने से वे उदाहरण नहीं होते। टीकाकारों ने इस कमी की पूर्ति अवश्य कर दी है।

(१०) पृ. ५८४ पर – उत्प्रेक्षा के लक्षण में ("संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्") प्रयुक्त 'संभानना' पद यहाँ पर उसके सामान्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं

---

१. दे. 'अत्र जलद इव (एव) भुजग इति रूपणं वाच्यं तावन्न सिद्ध्यति यावत् विषमित्यनेन जलवाचकेन हालाहलं न व्यज्यते। बा. बो. टीका पृ. २०६।

२. दे. निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्। का. प्र. झ. २७२।

३. दे. इस विषय पर बालबोधिनी पृ. २१४।

है। उसका विशेषअर्थ वृत्ति के द्वारा देना आवश्यक है। भामह, रूद्रट आदि ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। आचार्य मम्मट ही इसके प्रथम प्रयोक्ता हैं। अतः यह शब्द व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

(११) इसके साथ एक अन्य कारण और भी है जिससे इस ग्रन्थ में क्लिष्टता ने प्रवेश कर लिया है। वह है प्राकृत उदाहरणों का अत्यधिक प्रयोग। का. प्र. के कुल ६०३ उदाहरणों में प्राकृत भाषा के लगभग ६३ उदाहरण हैं। आचार्य मम्मट के समय प्राकृत भाषा का प्रसार अधिक मात्रा में रहा होगा, जिससे ऐसे उदाहरणों का संग्रह तथा प्रयोग करने में आचार्य मम्मट को परिश्रम नहीं करना पड़ा होगा। किन्तु आज संस्कृत पद्यों की अपेक्षा प्राकृत पद्यों का अर्थ करना अधिक प्रयत्नसाध्य अवश्य है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना ठीक होगा कि जिस ध्वन्यालोक का प्रभाव आचार्य मम्मट पर अत्यधिक रूप में पड़ा है, उस ग्रन्थ में भी लगभग २०० उदाहरणों में प्राकृत के ४० उदाहरण दिये गये हैं।

आचार्य मम्मट की शैली के गुण :

इस प्रकार क्लिष्टत्वादि तथा अन्य कुछ दोषों के होने पर भी आचार्य मम्मट की प्रतिपादनशैली गुणशालिनी है।

आचार्य मम्मट अपने ग्रन्थ का आरम्भ परम्परा निभाने के लिए तथा शिष्यों के मार्गदर्शन के लिए मङ्गलाचरण से करते हैं। किन्तु स्तुति का विषय चुनने में भी उनकी बुद्धि का परिचय मिलता है। कवि-भारती अर्थात् सरस्वती वाग्देवता की प्रशंसा उन्होंने प्रतिभापूर्ण पद्धति से की है। आगे चलकर ग्रन्थ की उपादेयता सिद्ध करने के लिए उसका प्रयोजन भी बतलाया है। पश्चात् काव्य-निष्पत्ति के हेतुओं को बतलाते हुए ग्रन्थ के प्रमुख विषय काव्य के निरुपण का आरम्भ किया है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने ग्रन्थ-रचना में प्राचीन परिपाटी को ठीक तरह से निभाया है।

ग्रन्थ की योजना भी सुबद्ध तरीके से की गयी है। आरम्भ में काव्य का लक्षण उसकी व्याख्या, विभाग तथा उदाहरण देकर लक्षण में दिये हुए एक-एक अंश की व्याख्या क्रम से की है। लक्षण में मुख्य अंश "शब्दार्थौ" है। अतः प्रथम शब्द और उसके अर्थों का विवेचन किया। अर्थ में अभिधा, तात्पर्या, लक्षणा के साथ-साथ व्यञ्जना वृत्ति का भी निरूपण करना आवश्यक था। व्यञ्जना तथा व्यङ्ग्यार्थ की स्थापना इस शास्त्र का प्रमुख तथा महत्वपूर्ण विषय रहा है। इसके विरुद्ध वैयाकरण, मीमांसक नैयायिक आदि अनेक दार्शनिक खड़े होते हैं। अतः उनका समाधान करते हुए व्यञ्जना की सिद्धि करने में आचार्य मम्मट को बहुत परिश्रम करना पड़ा है। करीब आधा ग्रन्थ इसी

कार्य में लगा हुआ है । किन्तु समस्त विरोधी तर्क-जाल का खण्डन करके व्यञ्जनावृत्ति तथा व्यङ्ग्यार्थ की स्थापना करने में आचार्य मम्मट यशस्वी हुए हैं। इस विषय में उनकी बुद्धिमत्ता को देखकर उन्हें "वाग्देवतावतार" माना गया है। व्यञ्जनासिद्धि के बाद व्यङ्ग्यार्थ के प्रकारों का उदाहरणों के साथ विवेचन करना क्रमप्राप्त था । इतना करने के पश्चात् अर्थात् "शब्दार्थौ" इस अंश की व्याख्या कर लेने के पश्चात् विशेषणों की व्याख्या आरम्भ होती है । प्रथम विशेषण है "अदोषौ" अर्थात् दोषाभाव के ज्ञान के लिए "दोषों" का ज्ञान आवश्यक है। अतः उनका निरूपण शब्द-अर्थ-रस दोषों का निरूपण-तथा उनकी नित्यानित्यत्व-व्यवस्था आदि आनुषङ्गिक बातों का विवेचन कर इस विषय को पूरा किया है। इस विवेचन में अलङ्कार दोष छूट गये हैं । किन्तु जब तक अलङ्कारों का विवेवन नहीं किया जाता तब तक उनके दोषों का ज्ञान ठीक तरह से नहीं हो सकता। अतः उनका विवेचन अलङ्कारों के निरूपण के पश्चात् किया है। दोष-निरूपण के बाद "सगुणौ" यह विशेषण आता है। अतः गुण निरूपण का आरम्भ किया गया। यहाँ पर आचार्य मम्मट को एक आवश्यक कार्य करना पड़ा। वह था गुण और अलङ्कारों का भेदसाधन। भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलङ्कारिकों के मत में गुणालङ्कारों का भेद ठीक-ठीक तरह से स्पष्ट नहीं था। उद्भट तो इस भेद को "गड्डलिकाप्रवाह" ही समझते थे । वामन केवल "परिमाण" का भेद मानते थे। अतः आचार्य मम्मट ने "गुणालङ्कारभेद" साधने का कार्य प्रथम किया। फिर उनकी संख्या आदि का निश्चय, उनकी रसधर्मता, वर्णव्यङ्ग्यता, उनका स्वरूप आदि का विवेचन किया है। फिर आती है "अनलङ्कृती" पद की व्याख्या। इसका अर्थ स्पष्ट ज्ञात होने के लिए अलङ्कारों के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई। उनमें भी प्रथम शब्दालङ्कार प्रथमता की दृष्टि से और संख्यालाघव की दृष्टि से निरूपण किये गये। इसी समय वैदर्भी आदि तथा कोमला आदि वृत्तियाँ चर्चित की गयी तथा उनका अन्तर्भाव कर दिया गया। यमक आदि शब्दालङ्कारों का निरूपण कर लेने के बाद उपमादि अर्थालङ्कारों का विवेचन १० वें उल्लास में किया गया। संसृष्टि और संकर अलङ्कार की भी व्यवस्था दी गई। अलङ्कार-दोष भी बतलाये गये और अन्त में कहा "सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम् ।" अर्थात् आचार्य मम्मट का यह ग्रन्थ काव्यलक्षण का सम्पूर्ण निरूपण है। यही है "काव्य-प्रकाश" । इसमें किसी एक अङ्ग को, केवल, शब्द, अर्थ, गुण, रीति, अलङ्कार आदि में से किसी एक को, महत्त्व न देते हुए उन सब की, यथास्थान उनकी योग्यता के अनुसार, संगति बतलायी गयी है और "समन्वयवाद" का सर्वोत्तम आदर्श प्रस्तुत किया है । यह समन्वयवाद ही आचार्य मम्मट की शैली की प्रमुख विशेषता है।

आचार्य मम्मट की शैली की एक अन्य विशेषता उनकी प्राञ्जल तथा स्वच्छ निरूपणपद्धति है। आचार्य मम्मट जिस तत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं उसे वे यथाशक्ति स्पष्ट रूप से बतलाने का प्रयास करते हैं। इसके उदाहरण के रूप में : (१) प्रयजोनप्रतिपादनप्रकरण में "कान्तासंमित उपदेश" स्पष्ट करने के लिए त्रिविध उपदेशों का निर्देश करना। (२) लक्षणा के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती इस बात का प्रतिपादन। (३) व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ में भिन्नता स्पष्ट करने के लिए विविध हेतुओं का देना (४) "रस" प्रतीति के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रों के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोण स्पष्ट करना। (५) रस आदि का अनन्तत्व सिद्ध करना[१]। (६) संबद्धसम्बन्ध ध्वनि का उदाहरण देकर स्पष्टीकरण देना।[२] (७) व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान में अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता इस बात का प्रतिपादन[३] (८) वामन के "रीतिरात्मा काव्यस्य" सिद्धान्त का खण्डन[४] (९) अष्टम उल्लास में बतलाया हुआ गुणस्वरूप। (१०) दोषगुणालङ्कारों की शब्दार्थगतत्वव्यवस्था[५] आदि स्थल दिये जा सकते हैं तथा इनके सदृश अन्य स्थळ आचार्य मम्मट की प्रतिपादन शैळी पर सर्वोत्तम प्रकाश डाळते हैं।

प्रसादपूर्ण तथा चमत्कारजनक गद्य की एक झलक भी आचार्य मम्मट के ग्रन्थ में देखने को मिलती है। पृ. २४९ का यह गद्य देखिए—

> "न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्।
> न च तदनुगतमेव अभिधावळम्बनेनापि तस्य भावात्।
> न चोभयानुसार्येव अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः।
> न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावळोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव।"

किन्तु इस प्रकार के गद्य आचार्य मम्मट के ग्रन्थ में अपवाद स्वरूप ही रहेंगे।

जब किसी शास्त्रीय विचार की चर्चा चलती है तब आचार्य मम्मट अपने को उस शास्त्र की परम्परा से सम्बद्ध कर लेते हैं तथा उनके मुख से निकलने

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. १४८।
२. वही पृ. २५१।
३. वही पृ. २५२।
४. वही पृ. ४७०।
५. वही पृ. ५१८।

वाले शब्द उस शास्त्रीय परम्परा का वेष धारण करके ही सामने आते हैं। इस दृष्टि से काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास का उत्तरार्ध अवश्य अवलोकनीय है। उसमें मीमांसा के अनुसार विधानपद्धति की चर्चा वैदिक उदाहरण (लोहितोष्णीशा ऋत्विजः प्रचरन्ति। दध्ना जुहोति। इ.) देकर की है। वृद्धव्यवहार से संकेतग्रह किस प्रकार से होता है यह भी उत्तमवृद्ध, मध्यमवृद्ध, व्युत्पित्सु बालक आदि के उदाहरणों को लेकर बतलाया है। यह सारा ग्रन्थभाग आचार्य मम्मट की शास्त्रीय लेखनशैली का पर्याप्त निदर्शन होगा।

जब किसी पूर्ववर्ती आचार्य के अभिमत का खण्डन करना पड़ता है तब आचार्य मम्मट उस आचार्य का नाम प्रायः नहीं लेते हैं। केवल उसका अभिप्राय बतलाकर खण्डन कर देते हैं। उदाहरण के लिए पृ. ४७० पर किया हुआ आ. उद्भट के "गुणालङ्कारभेद" को गड्डलिकाप्रवाह मानने के सिद्धान्त का खण्डन, तथा पृ. ४७१ पर किया हुआ वामन के गुणालङ्कार भेद के सिद्धान्त का खण्डन, देखे जा सकते हैं। हाँ, जहाँ किसी को दोष नहीं देना है, केवल मतभेद प्रदर्शित करना है, वहाँ पर नामोल्लेख भी किया गया है। जैसे पृ. ४९८ पर "केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। एतास्तिस्त्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौड़ीपञ्चाल्याख्या रीतयो मताः। इ.। यह भी आचार्य मम्मट की शैली की एक विशेषता है।

अब हम आचार्य मम्मट की शैली के विषय में श्री वामनाचार्य झलकीकर का अभिमत प्रकट करते हुए यह प्रकरण समाप्त करेंगे। काव्यप्रकाश की भूमिका के पृ. २० पर वामन, वाग्भट, दण्डी, भोज आदि का लेखन उत्तम तो है किन्तु सूक्ष्मविचार रहित है। रसगङ्गाधर उत्कृष्ट, तथा सूक्ष्मविचार युक्त है। आदि कहने के पश्चात् आचार्य मम्मट के विषय में वे लिखते हैं :

"अयं हि युक्त्या स्वोक्तिमुपपादयतां सूक्ष्मं च विषयमाविष्कुर्वतां मम्मटोपाध्यायानां काव्यप्रकाशाख्यो निबन्धः सर्वांशे नितरामुत्कर्षमाश्रयते। परं त्वत्रायमेको महान् दोषः यत् कस्य चित्कस्य चिदंशस्य अभिप्रायो दुरधिगम इति यं कृतधियोऽपि कृतिनस्तत्वतोऽधिगन्तुं न शक्नुवन्ति। किं पुनरधिकम्। एकेन यदंशस्य योऽभिप्रायोऽवाधारि अन्येन तदंशस्यैव तद्विपरीत इति। अत एवास्य टीका बह्वयः संवृत्ताः।"

•

अध्याय – ५

(खण्ड क)

भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा

१– साहित्यशास्त्र का नामकरण :

आज हम जिसे साहित्यशास्त्र के नाम से समझ लेते हैं वह आरम्भ में इस नाम से प्रसिद्ध नहीं था। इसका नाम पहले "अलङ्कारशास्त्र" था। इस शास्त्र का प्रतिपादन करने वाले, प्रारम्भ में रचित, ग्रन्थ भी "अलङ्कार" नाम को लेकर ही रचे गये हैं। यथा —

१. भामह (समय ६००–७०० ई.) काव्यालङ्कार।।
२. दण्डी (समय ६००–७०० ई.) काव्यादर्श।
३. उद्भट (समय ८०० ई.) काव्यालङ्कारसारसंग्रह।
४. वामन (समय ८०० ई.) काव्यालङ्कारसूत्र।
५. रुद्रट (समय ८५० ई.) काव्यालङ्कार। आदि।

इन उपरोक्त प्रमुख अलङ्कारशास्त्रियों में केवल दण्डी को छोड़कर शेष चारों ने अपने ग्रन्थ को "काव्यालङ्कार" की संज्ञा दी है। इसके पश्चात् ही काव्यशास्त्र में तथा काव्य की व्याख्या में "साहित्य" का प्रवेश हुआ जिसका स्वरूपनिश्चय भी तत्कालीन पण्डितों ने कर दिया है। उसे हम यथास्थान देखेंगे। हम यहाँ पर केवल यही दिखाना चाहते हैं कि आज का साहित्य-शास्त्र प्राचीन समय में "अलङ्कारशास्त्र" था।[1]

अलङ्कारशास्त्र का प्राचीन स्वरूप :

यद्यपि काव्य पर शास्त्रीय रूप से लिखा हुआ सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ भामह का "काव्यालङ्कार' अथवा दण्डी का "काव्यादर्श" ही है तथापि ऐसे कुछ प्रमाण मिलते हैं जिससे यह माना जा सकता है कि भामह तथा दण्डी के पूर्व में भी काव्यशास्त्रीय विषयों की चर्चा होती रही है तथा उन पर ग्रन्थ निर्मिति भी हुई है। अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख विषय "अलङ्कार" का विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में (ई. पू. २०० से ई. २००) आया है तथापि इसके पूर्व

---

१. दे. भा. सा. शा. उपा. पृ. १।

भी निरुक्त, ब्रह्मसूत्र आदि में कुछ अलङ्कारों के नाम मिलते हैं तथा संक्षिप्त रूप में शास्त्रीय चर्चा भी मिलती है।

१. "लुप्तोपमानि अर्थोपमानीत्याचक्षते। निरुक्त ३।१३।
२. अथात उपमाः यदतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। निरुक्त ३।१३।
३. अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्। ब्र. सू. ३।२।१८।
४. आनुमानिकमप्येकेषां शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च (ब्र. सू. १।४।१) "रसादिभ्यश्च" ५।२।९५ इस पाणिनिसूत्र पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने जो उदाहरण दिया है। (रसिको नटः। व्हाल्यूम (खण्ड) २ पृष्ठ ३९४।)

उस से पता चलता है कि उस समय भी रस का नट से किसी प्रकार का संबन्ध होने की कल्पना विद्यमान थी। "उपमानानि सामान्यवचनैः" २।१।५५ जैसे पाणिनिसूत्रों में उपमान, सामान्यवचन आदि काव्यशास्त्रीय संज्ञाओं का प्रयोग मिलता है। "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" ४।३।११० यह पाणिनि का सूत्र तो किसी नटसूत्र का अर्थात् नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ का उल्लेख करता है। इस प्रकार अलङ्कारशास्त्रीय विभिन्न विषयों के उल्लेख तथा संक्षिप्त चर्चा की जानकारी हमें प्राचीन साहित्य में यद्यपि मिलती है तथापि अलङ्कारशास्त्र की परम्परा का आरम्भ भामह तथा दण्डी से ही होता है। हम इस परम्परा की जानकारी आगे देने वाले हैं। इस समय हमें अलङ्कारशास्त्र के नाम की चर्चा करनी है।

इन शास्त्रीय ग्रन्थों में जो "काव्यालङ्कार" का उल्लेख आया है वहाँ का "अलङ्कार" शब्द भी काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि के समय में अलङ्कार शब्द जिस अर्थ में लिया जाता था उस अर्थ से बहुत कुछ भिन्न है। "अलङ्कार" शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती थी। एक "अलङ्कृतिः अलङ्कारः" और दूसरी "अलङ्क्रियते अनेन अथवा अलङ्करोति इति अलङ्कारः। पहली व्युत्पत्ति का अर्थ होता है "अलङ्कार" – शोभा अथवा सौन्दर्य और दूसरी व्युत्पत्ति से अर्थ आता है "वह साधन जिससे सौन्दर्य निर्माण होता है अथवा निर्माण किया जाता है। अर्थात् काव्य में शोभा लाने वाले धर्म, माधुर्यादि गुण और उपमादि अलङ्कार। इन दोनों अर्थों को लेकर अलङ्कार-शास्त्र में विवेचन आता रहा है।

वैसे तो अपने काव्यलक्षण में भामह ने ही "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"।[1] कहा है। किन्तु आगे उसने साहित्य का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। यह कार्य

१. दे. का. लं. भा. १, १६।

९००-९२५ ई. के, काव्यमीमांसा के रचयिता राजशेखर ने किया है। यद्यपि काव्यमीमांसा एक असम्पूर्ण ग्रन्थ है तथापि इस ग्रन्थ का जो भी अंश (केवल १ अधिकरण) उपलब्ध है उससे काव्य के विषय में विपुल जानकारी मिलती है। राजशेखर ने लिखा है "पञ्चमी साहित्यविद्या"। "शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या"।[1] वैसे तो शब्द और अर्थ का साहित्य भाषा में सर्वत्र रहता ही है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति बिना अर्थ के वाक्यप्रयोग और बिना भाषा के अर्थकथन कर ही नहीं सकता। अर्थात् वाच्य और वाचक का साहित्य, क्या काव्य में, क्या शास्त्र में, सर्वत्र अनिवार्य ही है। फिर काव्य में आने वाला साहित्य कैसा ? इसका उत्तर "अलङ्कारसर्वस्व" (रुय्यक) के टीकाकार समुद्रबन्ध ने दिया है। वह कहता है:—विशेष प्रकार के शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। यह विशेषता धर्म, व्यापार और व्यङ्ग्य द्वारा तीन प्रकार से आती है। धर्मविशेषता भी गुणों और अलङ्कारों द्वारा आती है। व्यापार द्वारा आने वाली विशेषता उक्तिवैचित्र्य से और आस्वादकरूप से (भोजकत्वेन) आती है। इस प्रकार पाँच पक्ष हैं। इनमें प्रथम पक्ष उद्भट आदि ने, दूसरा वामन ने, तीसरा वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने, चौथा भट्टनायक ने और पाँचवा आनन्दवर्धन ने स्वीकृत किया है।[2]

शब्दार्थ की इस विविध प्रकार की विशेषता का अर्थात् "साहित्य" का विवेचन करने का कार्य साहित्यशास्त्र करता है। इस "साहित्य" का परिपाक "रसाक्षेपी शब्दार्थों का उचित संनिवेश" इस कल्पना में हुआ है। इस प्रकार का संनिवेश करना ही कवि का मुख्य व्यापार है। ऐसा ध्वनिकार का कथन है।[3]

साहित्य-शास्त्र में "साहित्य" शब्द का प्रवेश भामह से ही हुआ था। उसने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" कहा था। किन्तु "साहित्य" शब्द के विशिष्ट

---

१. दे. का. मी. पृ. २३ तथा २९।

२. दे. महा. साहित्य पत्रिका. अं. १०१ पृ. २२ इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन वा इति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि अलङ्कारतो गुणतो वा इति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोजकृत्वेन वा इति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेपु आद्यः उद्भटादिभि, द्वितीयः वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थी भट्टनायकेन, पंचमः आनंदवर्धनेन अङ्गीकृतः।

३. दे. "वाच्यानां, वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्। रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः॥" ध्वन्या. ३।३२।

अर्थ का प्रभाव इन पण्डितों पर रुद्रट के समय से (ई. स. ८५०) विशेष रूप से पड़ने लगा। राजशेखर ने (९०० ई.) अपनी "काव्यमीमांसा" में "साहित्य" शब्द का प्रयोग, काव्यमीमांसा का शास्त्र अथवा विद्या, के अर्थ में किया है।[१] और उसे आन्वीक्षिकी आदि ४ विद्याओं के बराबरी का स्थान दिया है। इसी समय में काव्यशास्त्र के अर्थ में "साहित्य" शब्द का प्रयोग अनेक पण्डितों ने किया है। जिनमें "श्रीकण्ठचरित" के रचयिता मङ्ख (या मङ्खक ११२५-५० ई.)[२], अभिधावृत्तिमातृकाकार मुकुल (९००-९२५ ई.)[३], उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज (९००-९२५ ई.)[४], औचित्यविचारचर्चा के रचयिता क्षेमेन्द्र (१०२५-१०६० ई.)[५] आदि प्रमुख हैं। कुन्तक तथा भोज ने तो "साहित्य" किसे कहते हैं? इस प्रश्न की ही चर्चा की है[६] तथा उसकी व्यवस्था दी है। रुय्यक ने (११३५-५५ ई.) अपने ग्रन्थ का नाम ही "साहित्यमीमांसा" रखा है। १४ वीं शताब्दी के विश्वनाथ ने नाट्यशास्त्र के साथ सम्पूर्ण काव्याङ्गों की चर्चा करने वाले अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम भी "साहित्य-दर्पण" ही रखा है। इस प्रकार धीरे-धीरे "अलङ्कारशास्त्र" का स्थान "साहित्यशास्त्र" ने ले लिया।

इसी प्रकार "अलङ्कार" और "साहित्य" के समान एक अन्य शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। वह है "काव्यलक्ष्म" या "काव्यलक्षण"। इस शब्द का प्रयोग भामह ने[७] (काव्यालङ्कार ६।६४) और दण्डी ने[८] किया है। जिस प्रकार "अलङ्कार" से "आलङ्कारिक" या "साहित्य" से "साहित्यिक" शब्द काव्यसमीक्षक इस अर्थ में बनता हैं, उसी प्रकार ध्वनिकार ने "काव्यलक्षण" शब्द से "काव्यलक्षणकारी", "काव्यलक्षणविधायी", अथवा "काव्यलक्ष्मविधायी" शब्दों की निर्मिति की है। "काव्यलक्ष्मविधायिभिः चिरन्तनकाव्यलक्षणकारिणां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्।" "काव्यलक्षणकारिभिः प्रसिद्धेऽप्रदर्शिते प्रकारलेशे" आदि

---

१. दे. का. मी. पृ. २९।

२. दे. बिना न साहित्यविदाऽपरत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्। ग ग्र्यं दे. पृ.२

३. दे. पदवाक्यप्रमाणेषु तदतेत्प्रतिबिम्बितम्।.......यो योजयति साहित्ये तस्य-वाणी प्रसीदति। ग. ग्र्यं. दे. पृ. २।

४. दे. साहित्यं श्रीमुरारेः ग. ग्र्यं. दे. २।

५. वही पृ. २।

६. वही पृ. २।

७. अवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म। काव्यालङ्कार ६।६४।

८. यथासामर्थ्यमस्याभिः क्रियते काव्यलक्षणम्। काव्यादर्श १।२

उल्लेख ध्वन्यालोक में आये हैं।[1] तथापि इस संज्ञा का प्रचार काव्य-शास्त्र के जगत् में अधिक रूप से नहीं हुआ।

वैसे ही एक और शब्द काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था। वह है "क्रियाकल्प"। क्रियाकल्प का अर्थ है काव्य रचना के नियम। इस शब्द का प्रयोग "काव्यलक्षण" तथा "काव्यालङ्कार" इन शब्दों के पूर्व में हुआ था। अर्थात् साहित्यशास्त्र की आरम्भिक अवस्था का परिचय देने वाला यह शब्द हो सकता है। वात्स्यायनरचित काम-सूत्र में (२५०. एच. सी. चकलदार के सोशल लाईफ इन अन्शंट इण्डिया पृ. ३३ के अनुसार) जो ६४ कलाओं की सूची दी है उसमें "संपाठ्य-मानसीकाव्यक्रिया—अभिधानकोष-छन्दोज्ञान-क्रियाकल्प" इस क्रम से उल्लेख आया है तथा कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने क्रियाकल्प का अर्थ बतलाते हुए कहा है—

> "क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः।
> त्रितयमपि (अभधानकोष, छन्दोज्ञान, तथा क्रियाकल्प)
> काव्यक्रियाङ्गम्, परकाव्यावबोवधनार्थं च।"

भामह तथा दण्डी ने इस क्रियाकल्प का उल्लेख यथाक्रम "काव्यक्रिया"[2] एवं क्रियाविधि"[3] शब्द से किया है। किन्तु इस शब्द का प्रयोग भी आगे चलकर साहित्यशास्त्र में आद्दत नहीं हुआ।[4]

२– साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा तथा उसमें प्रतिपादित विषय :

आचार्य मम्मट का समय लगभग ११ वीं शती का उत्तरार्ध है। इनके पूर्व में साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की निर्मिति प्रायः १ सहस्त्र वर्षों से हो रही थी। ये ग्रन्थ उपलब्ध भी हैं और इन्हीं के संबन्ध में हमें जानकारी भी मिल सकती हैं। अनुपलब्ध किन्तु जिसके संबन्ध में कल्पना की जा सकती है ऐसा साहित्य-शास्त्रीय वाङ्मय तो इससे भी प्राचीन होगा। यह बात हम पृ. (७४) पर बतला चुके हैं। अब हम यहाँ पर उपलब्ध साहित्यशास्त्र की जानकारी संक्षेप में देंगे। यह जानकारी भी कालक्रम के अनुसार ही देने का प्रयास किया जायगा। ऐसा करने से ही साहित्य-शास्त्रीय-परम्परा के विकास का ज्ञान होगा। काव्य-शास्त्र रचयिताओं के समय के विषय में हम म. म. पा. वा. काणे द्वारा रचित

---

१. दे. ग. ग्यं. दे. पृ. ३।
२. दे. विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः। काव्यालङ्कार १-१०।
३. दे. वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्। काव्यादर्श १.९।
४. दे. ग. ग्यं. दे ३-४।

"सं. साहित्यशास्त्र के इतिहास" पर ही निर्भर रहेंगे। श्री ग. त्र्यं. दे. अपने भारतीय साहित्यशास्त्र की भूमिका में लिखते हैं— "साहित्य ग्रन्थांच्या कालानुक्रमाकरिता या ग्रन्थावर कोणीही खुशाल विसंबून राहावें एवढे या ग्रन्थाचे महत्व आहे।[१] अर्थात् साहित्यग्रन्थों के कालानुक्रम की जानकारी के लिए इस (म. म. काणेजी के सं. साहित्यशास्त्र के इतिहास) ग्रन्थ के भरोसे कोई भी रह सकता है। अतः हमने इसके पूर्व में तथा आगे भी जो कालक्रम सूचित किया है। वह इसी के आधार से किया गया है।

(क) **भरतमुनि** (समय ई. पू. २०० से ई. २००):

सुप्रसिद्ध नाट्शास्त्र के रचयिता भरतमुनि ने नाट्य में प्रयुक्त होने वाली विविध सामग्री के विवेचन के साथ-साथ काव्य के लिए उपयोगी अनेक बातों की चर्चा एवं प्रतिपादन किया है। साथ ही उनका प्रयत्न प्रस्तुत सामग्री नाट्योपयोगिनी किस प्रकार से है यह दिखाने का भी रहा है। परम्परा के अनुसार ३७ अध्यायों तथा ६००० श्लोकों के इस महाग्रन्थ में क्रियाकलापों का वर्णन बड़े विस्तार से तथा सूक्ष्मता के साथ किया है। किन्तु यत्र तत्र काव्यशात्रीय तत्वों की भी विवेचना की गयी है जिसकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है।[२] अध्याय ६ में सुप्रसिद्ध "विभावानुमावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः" सूत्र के निरूपण के साथ रसचर्चा करते हुए रसों के ८ भेदों का वर्णन आया है। संस्कृत साहित्य में रस चर्चा का आरम्भ यहीं से हुआ है। अध्याय ७ वें में भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, संचारिभाव का वर्णन आया है। ये दोनों अध्याय सं. साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। भविष्य के आचार्यों की रसचर्चा इन्हीं पर आश्रित है। अध्याय १५-१६ में छन्द संबन्धी जानकारी प्रस्तुत की है। १७ वें अध्याय में ३६ लक्षण, ४ अलङ्कार तथा काव्य के गुणों और दोषों का वर्णन आता है।[२] अलंकारों का तथा ह्रस्वदीर्घप्लुप्त स्वरों का प्रयोग रसानुकूलता के साथ किस प्रकार किया जाना ठीक है यह भी

---

१. दे. ऋण निर्देश पृ. ७ ग. त्र्यं. दे.।

२. दे. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते इयलङ्कारास्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ (भ. नाट्य)
श्लेषः प्रसादः समता समाधि-र्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च - कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते।
गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं, भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः। भ. नाट्य।
साहित्यदर्पण भूमिका पृ. २२-२३ से उद्धृत।

बतलाया गया है । अध्याय १८ में विविध प्राकृतों की जानकारी के साथ पात्रगत भाषाभेद का वर्णन किया गया है । अध्याय २० में नाटिका के साथ दस रूपकों का वर्णन किया है । "नाटिका" को छोड़ अन्य उपरूपकों का प्रचलन नाट्यशास्त्र के समय तक नहीं हुआ था । अध्याय २२ में भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी इन चार वृत्तियों का विवेचन आया है । अध्याय २४ में नाट्यालङ्कारों के साथ दस कामदशाओं का वर्णन आया है । अध्याय ३४-३५ में सूत्रधार, पारिपार्श्विक, विट, विदूषक, शकार, चेट इत्यादि पात्रों का स्वरूप दिया है । एवं नायक, नायिका, राजाओं के अन्तःपुर की स्त्रियों तथा अन्य लोगों का वर्णन आया है । अध्याय २८ से ३३ तक संगीतशास्त्र अर्थात् गीत, वाद्य का विस्तार के साथ विवेचन आया है । इस प्रकार नाट्यशास्त्र में आये हुए काव्य सम्बन्धी विषयों की संक्षिप्त सूची दी गयी है ।[१]

यहाँ पर एक बात हम स्पष्ट कर देना ठीक समझेंगे । यद्यपि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र संसार के विद्वत्समाज में प्रसिद्ध है तथा प्रामाणिक रूप से माना गया है, तथापि उसका ग्रथनसमय, विस्तार, प्रतिपादित विषयों की संख्या आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । इसीलिए इसका रचनाकाल लगभग ४-५ शताब्दियों का मानना पड़ा है । इसमें अनेक प्रक्षिप्तांश प्रविष्ट हो चुके हैं । अध्यायों तथा श्लोकों की संख्या, अध्यायों का विभाग आदि अनेक अंशों में हेरफेर हो गया है । "भरत" के टीकाकारों द्वारा भी उसमें अनेक श्लोकों का प्रवेश कराया गया है ऐसा लगता है । अतः नाट्यशास्त्र की भी आज महाभारत जैसी अवस्था हो गयी है । नाट्यशास्त्र के विषय में भी हम यह कह सकते हैं कि "यदिहारित तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।" इस ग्रन्थ के संपूर्ण विशुद्ध, तथा परीक्षित संस्करण की आज भी आवश्यकता बनी हुई है । इस विषय में अधिक जिज्ञासा रखने वालों से निवेदन है कि म. म. काणेजी का सं. साहित्यशास्त्र का इतिहास, श्रीरामकृष्णकवि द्वारा संपादित भरतनाट्यशास्त्र की भूमिका डॉ. सुशीलकुमार डे की हिस्टरी ऑफ संस्कृत पोएटिक्स[२] तथा प्रो. भोलानाथ शर्मा द्वारा अनूदित एवं संपादित नाट्यशास्त्र की भूमिका का अवलोकन करें । इस चर्चा को हम यहाँ पर अप्रासङ्गिक मानते हैं । हमें इतना ही कहना है कि नाट्यशास्त्र में आज जो भी उपलब्ध है उसका "भरतकालिकत्व" आँखे मूँद कर मान लेना उचित नहीं होगा । डॉ. सत्यदेव चौधरी जैसे विद्वान

---

१. दे. नाट्यशास्त्र अनु. प्रो. भोलानाथ शर्मा, भूमिका पृ. ८-२० ।

२. सु. कु. डे. पृ. १८-२४ ।

भरत के रससम्बन्धी अध्याय ६-७ की रचना भामह तथा दण्डी के पश्चात् हुई है ऐसी कल्पना करते हैं।[1]

(ख) यही बात विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा अग्निपुराण के विषय में कही जा सकती है। इनका "पुराण" नाम होने से इनकी प्राचीनता का आभास होता है। किन्तु इसमें अनेक विषय ऐसे आये हैं जिनके विषय में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वे पुराण कालीन नहीं हैं। अतः यद्यपि इन दोनों पुराणों की तथा उनके साहित्यशास्त्रीय अंशों की चर्चा म. म. कागेजी आदि ने की है तथापि वह साहित्यशास्त्रीय तत्वों के क्रमिक विकास का परिचय देने में कितनी सहायक होगी इसका निश्चय हमें नहीं है। तथापि डॉ. सुशीलकुमार डे के अनुसार इनकी जानकारी हम यहाँ पर दे रहे हैं।

विष्णुधर्मोत्तर का समय आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर ४०० और ५०० ई. के मध्य का माना जा सकता है। इसकी रचना काश्मीर अथवा उत्तर पंजाब में हुई होगी। यह एक उपपुराण के रूप में स्वीकृत है। इसके तीन काण्ड और ८०० से अधिक अध्याय हैं। इसके तृतीय काण्ड के कुछ अध्यायों में साहित्य-शास्त्रीय तत्वों की जानकारी दी गयी है। अध्याय १४-१५ में अनुप्रास, यमक, रूपक आदि १७ अलङ्कारों की चर्चा की गयी है। महाकाव्य का लक्षण तथा उसका "शास्त्र" और "इतिहास" से भेद बतलाया है। महाकाव्य में समस्त रसों का प्रयोग होता है। १६ वें अध्याय में "प्रहेलिका" की चर्चा आती है। १७ से ३१ अध्यायों की रचना "भरत" के आधार पर की गयी है और उसमें १२ प्रकार के रूपक मानकर उनका स्वरूप बतलाया गया है। वासक-सज्जा विरहोत्कण्ठिता स्वाधीनभर्तृका आदि ८ नायिकाओं का वर्णन दिया है। २० से २९ अध्यायों में लास्य, नृत्त, अभिनय आदि की चर्चा, की गई है। अध्याय ३० में नौ रसों तथा ३१ में ४९ भावों की विवेचना की गई है।[2]

(ग) अग्निपुराण की गणना महापुराणों में की जाती हैं। इसके ३३६ से ३४६ अध्यायों में साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों की जानकारी मिलती है जो अधिक व्यवस्थित तथा अधिक पूर्णतावाली प्रतीत होती है। इसमें भामह, दण्डी, भरत आदि के पद्यों को यथास्थित रूप में संग्रहित किया है। इससे यह लगता है कि इस पुराण के संकलनकर्ता ने इन सम्बन्धित अध्यायों की रचना, भरत, दण्डी, आदि के अनन्तर ही की होगी।

---

१. दे. काव्यशास्त्रीय निबन्ध पृ. १५।

२. दे. सु. कु. डे. पृ. ९५-९६।

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।"

यह पद्य तथा "शृङ्गारी चेत् कविः सर्वं जातं रसमयं जगत्" आदि पद्य अग्निपुराण के ३३८ अध्याय में १०-११ संख्या में आये हैं। और आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में भी[1] ये दोनों पद्य आते हैं। इनमें से "शृङ्गारी चेत्." आदि पद्य का कर्तृत्व ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन को ही स्पष्ट रूप से दिया है।[2] अर्थात् अग्निपुराण में इस पद्य का उद्धरण ध्वन्यालोक से किया गया है। भोज के कुछ नामोल्लेखरहित उद्धरणों को छोड़कर आचार्य विश्वनाथ तक किसी भी साहित्यशास्त्रकार ने अग्निपुराण का प्रमाण के रूप में उल्लेख नहीं किया है। अर्थात् इस पुराण का निदान अलङ्कार विभाग ९ वीं शताब्दी के मध्य की रचना हो सकती है।

इस पुराण में इन तत्वों की चर्चा की गई है—अ. ३३६ में काव्य की व्याख्या तथा उसके भेद, अध्याय ३३७ में रूपक, उपरूपक, अर्थप्रकृतियाँ, संधियाँ, अ. ३३८ में विभावादि के साथ रस, नायक, नायिका तथा उनके स्वभावविशेष, अध्याय ३३९ में पाञ्चाली, वैदर्भी, गौड़ी और लाटी ये चार रीतियाँ तथा भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी ये चार वृत्तियां, अध्याय ३४० में नृत्यचर्चा, अध्याय ३४१ में चतुर्विध अभिनयविचार, अध्याय ३४२ में ७ प्रकार के चित्रालङ्कारों तथा १६ प्रकार की प्रहेलिकाओं के साथ शब्दालङ्कारों का विवेचन, अध्याय ३४३ में अर्थालङ्कारों की चर्चा, अध्याय ३४४ में आक्षेप, समासोक्ति पर्यायोक्त के साथ उभयालङ्कारों का विवेचन और अध्याय ३४५-४६ में गुण और दोष इनका विवेचन आया है।[3]

(घ) काव्यालंकार के रचयिता भामह :

भामह साहित्यशास्त्र के आद्य आचार्य तथा अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं।[4] क्योंकि साहित्यशास्त्र का सुसंबद्ध इतिहास इन्हीं के ग्रन्थ से उपलब्ध होता है। यद्यपि इनके ग्रन्थ में पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय विवेचन का उल्लेख है तथापि वे ग्रन्थ विनष्ट हो चुके हैं। उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने भामह का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। इनका समय म. म. काणे के अनुसार ७ वीं शताब्दी के आसपास का

---

१. दे. ध्व. (विश्वेश्वर) पृ. ३१२।
२. दे. अभिनवभारती जी. ओ. एस. पृ. २९५।
३. दे. सु. कु. डे. पृ. ९७-१००।
४. दे. भा. सा. शा. उपा. पृ. १८।

है। किन्तु "भामह काव्यालङ्कार" के हिन्दी भाष्यकार प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार भामह का समय ५००-५५० ई. के मध्य में पड़ता है।[1] इनके पिता का नाम था "रक्रिलगोमिन्"। परम्परा के अनुसार ये काश्मीर के निवासी थे। अनेक गवेषक इन्हें बौद्धधर्मावलम्बी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु भामह ने बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन किया है।[2] वैदिक यज्ञ आदि के अनुष्ठाताओं के विषय में उन्होंने आदर प्रकट किया है।[3] उन्होंने रामायण तथा महाभारत के पात्रों की चर्चा बहुशः की है।[4] इन प्रमाणों से भामह वैदिक मतानुयायी थे यही सिद्ध होता है। "मनोरमा" नाम की प्राकृत व्याकरण पर रचित वृत्ति, तथा कोई छन्द का ग्रन्थ, इनकी अन्य रचना मानी जाती है।

काव्यालङ्कार में छः परिच्छेद और लगभग ४०० श्लोक हैं। परिच्छेदशः विषयविवरण इस प्रकार है :

परिच्छेद १ :– में भामह ने मङ्गल के पश्चात् काव्यप्रयोजन, कवित्व-प्रशंसा और शब्दार्थों के ज्ञान के पश्चात् ही काव्य रचना में प्रवृत्त होने की बात कही है। निर्दोष कवित्व की आवश्यकता तथा शब्दालङ्कारवादी और अर्थालङ्कार-वादियों के मत का कथन और अपने अभीष्ट पक्ष का प्रकटीकरण किया है। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं" कहकर उसके गद्य, पद्य, अपभ्रंश तीन भेद किये हैं। उसके पुनः इतिहास, कल्पित आदि वस्तु की दृष्टि से चार, और महाकाव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका तथा अनिबद्ध ऐसे पाँच भेद किये हैं। इन पाँचों का स्वरूप भी बतलाया है। अनन्तर गौड़, वैदर्भ आदि काव्यभेदों का उल्लेख कर उनमें अपनी अरुचि दिखायी है तथा ये किस अवस्था में ग्राह्य होते हैं यह भी दिखाया है। फिर नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ आदि १० काव्यदोष बतलाये हैं तथा रमणीनेत्र में अञ्जन के समान ये दोष कहीं-कहीं रमणीय भी होते हैं, यह भी कथन किया है। मालाकार जैसे फूलों का चयन कर रचना करता है इसी प्रकार कवि को भी अच्छे शब्दों को चुनकर काव्यरचना करनी चाहिये।

परिच्छेद २ :– माधुर्य, ओज और प्रसादगुण का वर्णन आता है। अनुप्रास, यमक के, आदि—मध्यान्त-पादाभ्यास, आवली, समस्तपाद ये पाँच भेद भी

---

१. दे. का. लं. भा. पृ. १७७।

२. दे. का. लं. भा. ६-१७-१९।

३. दे. का. लं. भा. ४-४८।

४. दे. का. लं. भा. २-४१, ३-५, ३-७ ३-११ आदि।

उदाहरणों के साथ बतलाये हैं। हेय यमक भी बतलाया है। रूपक के समस्त-वस्तुविषय और एकदेशविवर्ति ये दो, तथा दीपक के आदि-मध्य-अन्तदीपक ३ भेद बतलाये हैं। उपमा के इवादि द्वारा, समास द्वारा तथा "वृत्ति" (प्रत्यय) द्वारा तीन प्रकार होते हैं। प्रतिवस्तूपमा उपमा का ही भेद है। निन्दा-प्रशंसा-आचिख्यासा ये तीन उपमा भेद निरस्त किये हैं। मालोपमा-जैसे अनेक भेद महत्वपूर्ण नहीं है। हीनता-साद्दश्यासंभव-असंभव-लिङ्गवचनादिभेद-हीनविपर्यय-अधिकविपर्यय आदि उपमादोषों का विवरण आया है। मध्य में ही आक्षेप (२भेद), अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना समासोक्ति और अतिशयोक्ति इन छः अलङ्कारों का वर्णन आता है। अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति के रूप में माना गया है तथा इसे (वक्रोक्ति) "कोऽलङ्कारोऽनया बिना ?" कहा है। हेतु-सूक्ष्म-लेश इन अलङ्कारों का खण्डन किया है। यथासंख्य को मेधावी (एक आचार्य ?) "संख्यान" कहते हैं तथा वे "उत्प्रेक्षा" का उल्लेख नही करते हैं। स्वभावोक्ति अलङ्कार भी कुछ लोगों ने माना है। इस प्रकार संक्षेप से अलङ्कार विवेचन किया है। विस्तार बुद्धि को थकाने वाला होगा।

परिच्छेद ३ :– में अन्य २३ अलङ्कारों का विवेचन आता है। ये अलङ्कार हैं– १– प्रेयस्, २– रसवत् ३– ऊर्जस्वी, ४– पर्यायोक्त, ५– समाहित, ६– उदात्त, (२ प्र.) ७– श्लिष्ट (३ प्र.), ८– अपह्नुति, ९– विशेषोक्ति, १०– विरोध, ११– तुल्ययोगिता, १२– अप्रस्तुतप्रशंसा १३– व्याजस्तुति १४– निदर्शना, १५– उपमारूपक, १६– उपमेयोपमा १७– सहोक्ति, १८– परिवृत्ति १९–ससन्देह २०– अनन्वय २१– उत्प्रेक्षावयव (कुछ के अनुसार) २२– संसृष्टि और २३– भाविकत्व। कुछ लोगों ने "आशीः" नाम का भी अलङ्कार माना है जिसका प्रयोग सौहार्द तथा अविरोध के प्रदशन के लिये होता है। अन्त में कहा है— "गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः। स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः। (का. लं. भा. ५८)

परिच्छेद ४–में काव्यशोभा के विघातक दोषों का निरूपण आरम्भ किया है। वे दोष है :—

१– अपार्थ, २– व्यर्थ, ३– एकार्थ ४– संशय, ५– अपक्रम, ६–शब्दहीन, ७- यतिभ्रष्ट, ८– भिन्नवृत्त, ९– विसन्धि, १० देशविरोधी, ११– कालविरोधी, १२– कलाविरोधी, १३–लोकविरोधी, १४– न्यायविरोधी, १५– आगमविरोधी, १६– प्रतिज्ञाहीन, १७– हेतुहीन, १८– दृष्टान्तहीन। ये दोष काव्य में नहीं होने चाहिए। इसी प्रसंग में "वाक्य" का तथा पद का लक्षण, शंका तथा समाधान के साथ बतलाया है। "अखण्डबुद्धि ही वाक्य है।" इस अन्य मत का भी प्रदर्शन किया

है। बीच-बीच में दोषों का परिहार भी बतलाया है। इस प्रकार १५ दोषों का निरूपण करके "इन दोषों का प्रदर्शन दूसरों के दोष दिखाने के लिए नहीं है अपितु इनकी जानकारी के लिए ही है।" इतना निवेदन करके परिच्छेद समाप्त किया है।

परिच्छेद ५– में अवशिष्ट तीन दोषों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्र दुर्बोध होने से अल्पबुद्धि इससे डरते हैं। उनके मनोरंजन के लिए यह प्रयास है। काव्य का प्रदेश सर्वव्यापी है। कवि का दायित्व बहुत बड़ा है। प्रमाणों से वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष और अनुमान के व्यक्ति और जाति (क्रम से) विषय होते हैं। "बौद्ध-जैसे कुछ, निर्विकल्पक" को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। नाम, जाति आदि तो कल्पनात्मक हैं।" इस प्रकार बौद्ध मत का उल्लेख करके उस मत का खण्डन भी किया है, जिसमें चार प्रकार की युक्तियाँ दी हैं। इसके बाद अनुमान का लक्षण देकर– 'प्रतिज्ञा' के दोष ६ प्रकार के बतलाये हैं। उदाहरण भी "यतिर्मम पिता बाल्यात्सूनुर्यस्याहमौरसः।" आदि दिये हैं। "हेतुहीन" दोष को दिखाने के लिए ३ प्रकार के हेत्वाभास बतलाये हैं और अन्त में "दृष्टान्तहीन" दोष का स्वरूप दिखाया है। दूषणाभासस्वरूप "जातियों" का उल्लेखमात्र करके इस न्यायशास्त्रीय चर्चा को समाप्त किया है। इसके पश्चात् काव्य में "प्रतिज्ञाहीन" आदि दोषों के उदाहरण देने के लिए काव्य में धर्म-अर्थ-काम और कोपमूलक चार प्रतिज्ञाओं के स्वरूप तथा उदाहरण बतलाये हैं। इन चार को छोड़ अन्यत्र की हुई प्रतिज्ञा "प्रतिज्ञाभास" होगा। "हेतु" का स्वरूप शास्त्र और काव्य में समान ही होता है। अज्ञान, संशय तथा विपर्यय को उत्पन्न करने वाले काव्यहेतु सदोष होते हैं। "ये काश अपने फूलों की सुगन्ध से मन हर लेते हैं" आदि इसके उदाहरण दिये हैं। पश्चात् "दृष्टान्तहीन" को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त का स्वरूप तथा उपमा से उसकी पृथक्ता स्पष्ट की है। सदोष शब्दों का परित्याग करने के लिए कवियों को सचेत भी कर दिया है। कुछ काव्य अहृद्य, अभेद्य एवं अपेशल (जैसे कच्चा कैथ) होते हैं। ऐसे काव्य का उदाहरण भी दिया है। झाँई से रत्नों की, फलों से वृक्षों की और फूलों से उपवनों की शोभा जिस प्रकार बढ़ती है, उसी प्रकार वाणी की शोभा शब्दार्थ की वक्रता से ही बढ़ती है। कवि को अनावश्यक विस्तार से भी बचना चाहिये। अन्त में "यह" विवेचन मैंने अन्यों की रचनाओं का स्वयं अध्ययन तथा मनन करने के बाद ही किया है। सज्जन विद्वान ही मेरे प्रयास का मूल्यमापन कर सकते हैं।" ऐसा निवेदन करके परिच्छेद समाप्त किया है।

परिच्छेद ६ :– की रचना व्याकरणज्ञान की आवश्यकता बतलाने के लिए की गयी है। व्याकरणरूपी समुद्र से शब्दरत्न की प्राप्ति करनी है तो अनेक

भँवर, ग्राह आदि से मुकाबिला करना पड़ता है। काव्यरचना के अभिलाषी को व्याकरण का ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये। अन्य-प्रयुक्त वाक्यों का प्रयोग करने वाले उक्तानुवादी हैं। इसके बाद शब्द के विविध लक्षण बतला कर स्फोटवाद का खण्डन किया है और अन्त में स्वाभिमत शब्दस्वरूप बतलाया है। बौद्धों के "अपोहवाद" का भी खण्डन किया है। द्रव्य, जाति, क्रिया और गुण ऐसे चार प्रकार के शब्द माने जाते हैं। किन्तु इनकी इयत्ता बतलाना असंभव है। इनमें से अप्रयुक्त, दुर्बोध, अपेशल, ग्राम्य, निरर्थक तथा अप्रतीत अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग, वक्रोक्तिप्रवण कवियों को नहीं करना चाहिये। अन्यप्रयुक्त असाधु शब्दों का तथा वैदिक शब्दों का भी परित्याग करना ठीक है। परम्परागत, कर्णमधुर, अर्थयुक्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिये वर्ण सौन्दर्य सभी अलङ्कारों से बढ़कर है। पाणिनिसूत्रों से वार्त्तिकों से तथा भाष्य से प्रमाणित शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये। योगविभाग से साधित शब्द नहीं अपनावें। इस प्रकार योग्य शब्दों का वैयाकरणी विवेचन विस्तार से किया है तथा अन्त में कहा है —

"शालातुरीयमतमेतदनुक्रमेण। को वक्ष्यतीति विरतोऽहमतो विचारात्।
शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारं। भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ ॥
(का. लं. भा. ६।६२०)

तथा – "अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यवर्त्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।" (का. लं. भा. ६।६४)

अन्त में ४०० कारिकाओं का हिसाब देते हुए भामह कहते हैं – "६० कारिकाओं में काव्यशरीर का, १६० में अलङ्कारों का, ५० में दोषदर्शन का, ७० में न्यायनिरूपण का और ६० में शब्दशुद्धि का प्रतिपादन किया है।" अर्थात् यह निर्धारण स्थूल रूप से ही समझना चाहिये।

(ड) भट्टिकाव्य (रावणवध) के रचयिता महाकवि भट्टि :

इनका समय ५८८-८९ ई. से पूर्व का है।[1] इन्होने एकमात्र महाकाव्य रावणवध की रचना की है। इसका प्रमुख उद्देश्य पाणिनिव्याकरण के लिए उदाहरण देना है। इसके – (१) प्रकीर्णकाण्ड (सर्ग १-५), (२) अधिकारकाण्ड

1. दे. All these internal and external evidences show that BHATTI might have lived in the reign of DHARSEN II, and wrote his Kavya before 588-89 A. D. when DHARSEN II acquired the title "MAHARAJ." B. K. N. P. 24.

(सर्ग ६-९), (३) प्रसन्नकाण्ड (सर्ग १०-१३ और (४) तिङन्तकाण्ड (सर्ग १४-२२) चार काण्ड हैं, जिनमें से तृतीय काण्ड में साहित्यशास्त्रीय तत्वों के उदाहरण मिलते हैं। प्रायः भामहसम्मत् अलङ्कारों के उदाहरण ही इसमें दिये हैं। कुछ नये अलङ्कार भी माने हैं। जैसे "आशीः" अलङ्कार (१० स. ७२ पद्य)। इसे भामह ने नहीं माना है।[१] उपमा अलङ्कार के अधिक भेद किये हैं। जैसे इवोपमा (१०-३१०), यथोपमा (१०-३२), सहोपमा (१०-३३), तद्धितोपमा (१०-३४), लुप्तोपमा (१०-३५) तथा समोपमा (१०-३६)।[२] भट्टिकाव्य की टीका जयमङ्गला के अनुसार "उपमा-रूपक" (१०-६१) एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है। किन्तु मल्लिनाथ उसे उत्प्रेक्षा-रूपक का संकर मानता है।[२] निपुण (१०-७३) अलङ्कार केवल भट्टिकाव्य में मिलता है। जयमङ्गला ने इसे "उदात्त" में अन्तर्भूत किया है।[३] सर्ग १० पद्य २ से २२ तक विविध प्रकार के यमकों की रचना की है। चक्रवाल, समुद्गक-जैसे नये नाम भी इन्हें दिये गये हैं। इन प्रकारों में से कुछ प्रकार भामह के अनुकूल हैं। परन्तु आगे के साहित्यिकों को ये भेद संमत नहीं हैं।[४] रूपक के भी विभिन्न प्रकार इसमें आये हैं।[५] हेतु अलङ्कार (१०-७३) में आता है। भामह इसे स्वीकार नहीं करते। अलङ्कारों के नामों के विषय में जयमङ्गला और मल्लिनाथ में बहुत मतभेद पाया जाता है।[६]

इसी प्रकार भट्टि ने सर्ग १० वें में ३८ अलङ्कारों का ११ वें में माधुर्य गुण का, १२ वें में भाविक अलङ्कार का, (जिसे भामह ने केवल प्रबन्धगत माना है)[७] तथा १३ वें में भाषासम का (जिसमें एक ही पद्य संस्कृत तथा प्राकृत में एक-सा निबद्ध होता है) प्रदर्शन किया है। भट्टि ने कुछ नये अलङ्कारों के उदाहरण दिये हैं, तथा भामह एवम् दण्डी ने जिन्हें अलङ्कार नही माना है उनके भी उदाहरण दिये हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टि ने भामह तथा दण्डी के पूर्ववर्ती किसी अलङ्कारग्रन्थ का आधार लिया है। साथ ही यह भी ध्यान रखना

---

१. दे. बी. के. एन. पृ. ५५।

२. दे. वही पृ. ५५।

३. दे. बी. के. एन. पृ. २९।

४. दे. वही पृ. ६०-६३।

५. दे. भ. का १०-२७, २८, २९, ३० आदि।

६. दे. बी. के. एन. पृ. ५४-६६।

७. दे. का. लं. भा. ३।५३।

होगा कि भट्टि ने कहीं भी किसी अलङ्कार का नामोल्लेख नहीं किया है । यह तो टीकाकारों की कृति है, तथा वे आपस में मतभिन्नता भी रखते हैं ।[१]

(च) "काव्यादर्श" के रचयिता आचार्य दण्डी :

आचार्य दण्डी के समय के विषय में डॉ. सुशीलकुमार डे लिखते हैं "अलङ्कार साहित्य के कालानुक्रम में काव्यादर्श के रचयिता आ. दण्डी के कालक्रम को निश्चित करना एक कठिन समस्या है ।"[२] तथापि उन्होंने चर्चा के उपरान्त दण्डी की, ८ वीं शती के पूर्वार्द्ध में, स्थिति बतलायी है ।[३] म. म. काणेजी ने इस प्रश्न पर साङ्गोपाङ्गविचार करने के बाद दण्डी और भामह को प्रायः समकालीन मानकार दण्डी का समय ६६०-६८९ ई. के मध्य में माना है ।[४] "आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन" इस ग्रन्थ के रचयिता डा. जयशंकर त्रिपाठी के मत में, दण्डी के काव्यादर्श का रचनाकाल, ३४०-३५० ई. के मध्य का है,[५] तथा इनकी एकमात्र कृति "काव्यादर्श" ही है । "दशकुमारचरितम्" और "अवन्तिसुन्दरीकथा" किसी अन्य दण्डी की रचनाएँ हैं ।[६] नमिसाधु, कीथ आदि विद्वान् दण्डी को भामह के पूर्ववर्ती, काव्यादर्श के टीकाकार तरुणवाचस्पति, डॉ. सु. कु. डे आदि विद्वान् उत्तरवर्ती और म. म. काणे दोनों को समकालीन मानते हैं ।[७] प्रत्येक विद्वान् ने अपना पक्ष प्रमाण तथा युक्तियों के साथ प्रतिपादित किया है । किन्तु उसकी चर्चा करने का यह स्थल नहीं है । हमें केवल इतना ही ध्यान रखना है कि भामह और दण्डी दोनों सम्माननीय साहित्याचार्य हैं, दोनों भरत के उत्तरवर्ती तथा रुद्रट आदि आचार्यों के पूर्ववर्ती हैं ।

"काव्यादर्श" के संस्करण जो इस समय उपलब्ध होते हैं उनमें एक तीन परिच्छेदवाला और ६६० पद्यवाला है । रङ्गाचार्य संस्करण (मद्रास का संस्करण) ६६३ पद्यों का तथा ४ परिच्छेदों वाला है । तीसरे परिच्छेद के दो भाग किये गये हैं । इस रङ्गाचार्य-संस्करण में द्वितीय परिच्छेद में "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि".

---

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ. ७०-७१ ।

२. दे. सु. कु. डे. भाग १ पृ. ५७ ।

३. वही, भाग १ पृ. ६७ ।

४. हि. सं. पो. का. पृ. १२४ ।

५. दे. आ. दं. ज. त्रि., पृ. ४३० ।

६. दे. वही, पृ. ४१९-४२० ।

७. दे. वही, पृ. ४१० ।

आदि पद्य नहीं लिया गया है। ततीय परिच्छेद के अन्त में २ नये पद्य जोड़े है, तथा चतुर्थ परिच्छेद के आरम्भ तथा मध्य में १-१ पद्य और जोड़ा है।[1] इस प्रकार इसकी पद्य संख्या ६६३ हो गयी है।

परिच्छेद १ : में "सर्वशुक्ला" सरस्वती की वन्दना से ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है। इस संसार में शिष्टों की लोकयात्रा "वाणी" की कृपा से ही सम्पन्न होती है। अतः शब्दों का महत्व विस्तार से बतलाया है। काव्य का शरीर "इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" कहा है। और उस "वैदर्भमार्ग" रूप काव्य के प्राण दस गुण बतलाएँ हैं। फिर उसके गद्य, पद्य और मिश्र तीन भेद बतलाये हैं। इसके बाद पद्य में महाकाव्य की, गद्य में आख्यायिका और कथा की व्याख्या दी है। प्रकारान्तर से वाङ्मय के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र चार भेद भी गिनाये हैं।[2] अनुप्रास का स्वरूप और उदाहरण बतलाये हैं तथा इस काव्यसंपदा की निर्मिति के हेतु के रूप में नैसर्गिकी "प्रतिभा", निर्मल "श्रुत" और अमन्द "अभियोग" का उल्लेख किया है। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति, ओज, कान्ति और समाधि इन दस गुणों का विस्तार से विवेचन करके उन्हें वैदर्भमार्ग के (काव्य) विशेष गुण कहा गया है। वे इस मार्ग के प्राणभूत हैं। उक्ति में चमत्कार इन्हीं के कारण आता है।

परिच्छेद २ : में ३५ अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। अलङ्कार इस प्रकार हैं : स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (लव), यथासंख्य (क्रम), प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्योगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संकीर्ण और भाविक।

परिच्छेद ३ (तथा ४) : में "यमक अलङ्कार का विस्तार से विवेचन आया है। गोमूत्रिका अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरस्थान्नवर्णनियम-जैसे चित्रबन्धों का वर्णन आया है। १६ प्रकार की प्रहेलिकाएँ और दस प्रकार के दोष निरूपित किये हैं। इन दोषों के नाम इस प्रकार हैं : अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, संशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धिक, और देश-काल कला-लोक-न्याय-आगम-विरोधि।

---

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ. ८४।
२. दे. का. द. १-३२।

(छ) उद्भट का अलङ्कारसारसंग्रह :[१]

भट्टोद्भट ने भामह के "काव्यालङ्कार" पर "भामह-विवरण" भी लिखा था, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। तथापि इससे यह स्पष्ट है कि उद्भट पर भामह का प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसका समय भामह के पश्चात् अर्थात् ७०० ई. के पश्चात् तथा ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन के पूर्व (अर्थात् ९ वीं शती के पूर्व) है। काश्मीरी परम्परा के अनुसार, काश्मीरराज जयापीड़ (समय ७७९-८१३ ई.) के उद्भट सभापति थे।[२] यदि इस परम्परा को स्वीकार किया जाय तो भट्टोद्भट का समय ८०० ई. सिद्ध होता है। अलङ्कार-सारसंग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज की टीका है तथा श्री बनहट्टीकृत भूमिका के साथ इसका प्रकाशन बाम्बे सं. से. में १९२५ में हुआ है। इस ग्रन्थ के ६ वर्ग और लगभग ७९ कारिकाएँ हैं। प्रतिहारेन्दुराज के कथनानुसार अलङ्कारों के उदाहरण, जिनकी संख्या लगभग १०० है, कवि ने अपनी कृति 'कुमारसंभव' से लिये हैं।[३] अलङ्कारों की संख्या ४१ है जिन्हें छहो वर्गों में इस प्रकार विभाजित करके विवेचित किया है।

वर्ग १ में– पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास (३ प्र, परुषा, उपनागरिका, कोमला वृत्तियाँ) लाटानुप्रास, रूपक उपमा, दीपक (आदि, मध्य, अन्त), प्रतिवस्तूपमा।

वर्ग २ में– आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

वर्ग ३ में– यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

वर्ग ४ में– प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (२ प्र.) श्लिष्ट (२ प्र.)।

वर्ग ५ में– अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याज-स्तुति, विदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर (४ प्र.), परिवृत्ति।

वर्ग ६ में– अनन्वय, ससंदेह, संसृष्टि, भाविक, काव्यालिङ्ग, दृष्टान्त। इन अलङ्कारों का क्रम भामहानुसारी है। भामह के यमक,

१. दे. हि. सं. पो. पृ. १२५-३०।
२. दे. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः। भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः। राजतरङ्गिणी ४-४९५।
३. दे. अ. सा. सं. पृ. १५।

उपमारूपक, उत्प्रेक्षावय जैसे कुछ अलङ्कार उद्भट ने छोड़ दिये है तथा पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिङ्ग और दृष्टान्त इन अलङ्कारों को भामहोक्त अलङ्कारों में जोड़ दिया है। उद्भट ने "निदर्शना" को "विदर्शना" संज्ञा दी है तथा उसका केवल १ ही उदाहरण दिया है। भामह के अनुसार दूसरे प्रकार का उदाहरण टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने भामह से उद्धृत किया है।[1] उद्भट ने अलङ्कारों के लक्षण प्रायः भामह से अथवा इससे कुछ मिले जुले शब्दों में दिये हैं। इसी कारण से हेमचन्द्र, माणिक्यचन्द्र जैसे अनेक टीकाकारों को उद्भट के स्थान पर भामह का भ्रम हो गया है।[2] भविष्यकालिक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्भट का नाम बड़े ही आदर से लिया जाता है।

(ज) काव्यालङ्कारसूत्रकार वामन[3] :

इस ग्रन्थ के अभी तक अनेक संस्करण निकले हैं। कुछ देशी कुछ विदेशी। इस ग्रन्थ का विभाजन तीन अंशों में हुआ है। सूत्र वृत्ति और उदाहरण। सूत्र और वृत्ति स्वयं वामन की रचना है।[4] उदाहरण, जिनकी संख्या लगभग २५० है तथा जिनमें पद्य तथा पद्यांश शामिल हैं, अन्य कवियों के रचित तथा कुछ स्वयं के रचित हैं।[5] वामन में उध्दृत अनेक पद्य कवियों के कालक्रमनिश्चय में सहायक ठहरे हैं। वामन का उल्लेख राजशेखर ने (समय १० वीं शती की प्रथम चौथाई), प्रतिहारेन्दुराज ने (९००-९२५ ई.) तथा अभिनवभारतीकार (अभिनवगुप्त) ने (भाग १ पृ. २८८) किया है। अतः वह ९ वीं शती के पूर्व में ही विद्यमान था। वामन ने उत्तररामचरित के "इयं गेहे लक्ष्मीः." आदि[6] का उदाहरण दिया है। उ. रा. च. कार भवभूति का समय ७००-७२५ ई. के बीच का माना गया है।[7] अतः वामन का समय लगभग ८ वीं शताब्दी ठहरता है।

काव्यालङ्कारसूत्रों की रचना "अधिकरणों" तथा "अध्यायों" में हुई है। इसमें पाँच अधिकरण और १२ अध्याय हैं। प्रथम तथा चतुर्थ अधिकरण में

---

१. दे. अ. सा. सं. पृ. ६२।

२. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १२६-२७।

३. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १३१-३३।

४. दे. प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते। का. सू. वा.

५. दे. एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः। शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता का. सू. वा. ४-३-३३।

६. दे. का. सू. वा. ४-३-६।

७. दे. भाण्डारकर "मालतीमाधव की भूमिका" ज. ऑफ ए. एस. १९०८ पृ. ७९५।

३-३ अध्याय और शेष अधिकरणों में दो-दो अध्याय हैं । यह वामन का "अधि-करण-अध्याय विभाग" प्राचीन परिपाटी से, जिसमें अध्यायों का विभाजन अधि-करणों में किया गया है, उलटा-सा अवश्य लगता है, तथापि इसमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रणाली को अपनाया गया है।

प्रथम अधिकरण "शरीर" में : काव्य के प्रयोजन, साहित्यशास्त्र का अध्ययन करने के लिए अधिकारी व्यक्ति की योग्यता, "रीति" ही काव्य की आत्मा है का कथन, वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों का विवेचन, काव्य के अन्य उपकरण तथा काव्य का विभाजन आदि बातों का विवेचन आया है ।

द्वितीय अधिकरण "दोषदर्शन" :– में पद वाक्य और वाक्यार्थ के दोषों का वर्णन आया है।

तृतीय अधिकरण "गुणविवेचन" :– गुण और अलङ्कारों का भेद बतला-कर १० गुणों का लक्षण तथा उदाहरणों के द्वारा विवेचन किया गया है । ओज आदि ये गुण शब्द तथा अर्थ के हैं।

चतुर्थ अधिकरण "आलङ्कारिक" में :– यमक तथा अनुप्रास का विचार आता है । उपमा तथा उपमा के छह दोषों की चर्चा की है और अन्य अलङ्कारों का, जो प्रायः उपमा पर आधारित है, विवेचन किया है।

पञ्चम अधिकरण "प्रायोगिक" में :– कवि ने अपनी रचना में जिन नियमों का पालन करना आवश्यक माना है उनकी जानकारी दी है। जैसे एक ही पद का बार-बार प्रयोग नहीं करना, पद्य रचना में पद्यार्ध के अन्त को छोड़ अन्यत्र संधि-नियमों का पालन अनिवार्य रूप से करना, "खलु" जैसे शब्दों का पद्य के चरण के आरम्भ में प्रयोग नहीं करना आदि । व्याकरणानुसार शब्द-शुद्धि किस प्रकार प्राप्त की जाती है इसका प्रदर्शन किया है तथा प्राचीन कवियों ने जो व्याकरण की भूलें की हैं उनका भी दर्शन कराया है । इस अधिकरण का अन्तिम अध्याय (शब्द-शुद्धि) भामह के ६ ठे परिच्छेद का अनुकरण है । केवल भेद इतना ही है कि भामह (परि. ६ का. ३२-६०)) पाणिनि की अष्टाध्यायी के क्रम को ध्यान में न रखते हुए ही शब्दों का ग्रहण कर, उनकी प्रयोग-योग्यता आदि के विषय में चर्चा करते हैं । अप्रयोगार्ह शब्दों के उदाहरण भी वामन ने दिये हैं। यथा "इन्द्रश्च इन्द्राणी च" इस अर्थ में एकशेष द्वन्द्व "इन्द्रौ" नहीं होना चाहिये। पाणिनि के "पुमान् स्त्रिया" १-२-६७, तथा "पुंयोगादाख्यायाम्" ४-१-४८ इन सूत्रों के वास्तविक अर्थ की ओर हम ध्यान देंगे तो यह तथ्य ध्यान में आ सकता है। अर्थात् "भामह" ने (६।३२ का. लं.) जो इस प्रयोग को ठीक माना है . वह योग्य नहीं है" यह सूचित करना वामन

ने चाहा है। इसी प्रकार वामन ने कवियों के द्वारा प्रायः अनेक बार प्रयुक्त "बिम्बाधर" शब्द को अशुद्ध माना है। क्योंकि "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" पा. २·१-५६ के अनुसार यह शब्द "अधरबिम्ब" होना चाहिये। किन्तु वामन ने ही इस शब्द को मध्यमपदलोपी समास (बिम्बाकारोऽधरः) मानकर शुद्ध भी कर दिखाया है।

वामन ने अनुप्रास, यमक और उपमा के साथ ही निम्न अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण क्रम से दिये हैं — प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, संदेह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शन, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि, उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षावयव, (कुल सं. ३३) । इनमें पर्यायोक्त, उदात्त, रसवत्, प्रेय, अर्जस्वि, भावक जैसे अलङ्कारों की व्याख्या वामन ने नहीं की है। कुछ अलङ्कारों के लक्षण भामह के अनुसार किये-से लगते हैं। जैसे उपमा (भामह २।३०, वामन ४-२-१) विभावना (भामह २-७७ वामन ४-३-१३ आदि।

वामन को रीतिसंप्रदाय का आचार्य माना जाता है तथा कुछ अन्य विशेषताओं के प्रणेता के रूप में भी उसे मान लिया गया है। जैसे गुण और अलङ्कार का भेद प्रदर्शन, "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।"[1] वैदर्भी गौड़ी और पांचाली रीतियों का प्रतिपादन। "वक्रोक्ति" का अर्थालङ्कार में समावेश तथा उसकी सादृश्याल्लक्षणा के रूप में व्याख्या।[2] विशेषोक्ति अलङ्कार की विलक्षण व्याख्या[3] जिसे जगन्नाथ आदि के अनुसार रूपक माना गया है तथा "आक्षेप" अलङ्कार की दो प्रकार की व्याख्याएँ जो मम्मट तथा अन्य अलङ्कारिकों के अनुसार क्रम से "प्रतीप तथा समासोक्ति" से मिलती जुलती हैं। आदि।[4]

(झ) काव्यालङ्कार के रचयिता रुद्रट :

काव्यालङ्कार नमिसाधु की टीका के साथ प्रकाशित हुआ है। इसके १६ अध्याय होकर इसमें प्रायः समस्त साहित्यशास्त्रीय तत्वों की चर्चा आई है। यह

---

१. का. सू. वा. ३-२-१-२।
२. वही ४-३-८।
३. दे. एक गुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।
   का. सू. वा. ४-३-२३।
४. दे. हि. सं. पो. पृ. १३५-३६।

ग्रन्थ आर्यावृत्त में लिखा गया है। कहीं २ और प्रत्येक अध्याय के अन्त में अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। इसमें दिये उदाहरण रुद्रट के स्वयं के हैं। इसमें ७३४ पद्य हैं। १२ वें अध्याय में १२ पद्य और हैं जिनमें नायिका के आठ भेद तथा उपभेद बतलाये गये हैं। किन्तु ये पद्य प्रक्षिप्त माने गये हैं। इसका सबसे छोटा अध्याय १३ वाँ है जिसमें १७ पद्य हैं और सबसे बड़ा अध्याय है ७ वाँ और ८ वाँ जिसमें १११, और ११० पद्य आये हैं। १६ अध्यायों के विषय इस प्रकार हैं :

प्रथम में :– गणेश-गौरी की वन्दना के पश्चात् काव्य का उद्देश्य और प्रयोजन कहा है तथा कवि के लिए आवश्यक शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास का लक्षण बतलाया है।

द्वितीय में :– काव्य का लक्षण और शब्द के वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक श्लेष और चित्र पाँच अलङ्कार, वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी, लाटी चार वृत्तियाँ और संस्कृत, प्राकृत, मागध, पैशाची, शूरसेनी और अपभ्रंष, जिनमें कविता की रचना की जाती है, छह भाषाएँ बतलायी हैं। इसके उपरान्त वक्रोक्ति और अनुप्रास के लक्षण, भेद और उदाहरण बतलाये हैं तथा अनुप्रास की मधुरा ललिता, प्रौढ़ा, परुषा और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ निरूपित की हैं।

तृतीय में :– ५८ पद्यों में यमक का विस्तार आता है।

चतुर्थ में :– वर्ण, पद, लिङ्ग आदि आठ प्रकार के श्लेष का वर्णन है।

पंचम में :– चक्र-मुरज – पद्म सर्वतोभद्रादि, चित्रकाव्य का विवेचन है। प्रहेलिका का भी वर्णन दिया है।

षष्ठ में :– पद और वाक्य के दोष तथा

सप्तम में :– अलङ्कारों के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष चार आधार बतलाकर वास्तव पर आधारित २३ अलङ्कारों का विवेचन दिया है।

आठवें में :– औपम्य पर आधारित २१ अलङ्कार तथा

नवम में :– अतिशय पर आधारित १२ अलङ्कार वर्णित है।

दशम में :– शुद्ध श्लेष के दस प्रकार और दो प्रकार के संकर बतलाये हैं।

एकादश में :– अर्थ के ९ दोष तथा उपमा के ४ दोष बतलाये हैं।

द्वादश में :– दस रस, शृङ्गार तथा उसके संभोग और विप्रलम्भ दो प्रभेदों का लक्षण, नायक के गुण तथा उसके साथी, और नायक-नायिकाओं के भेद बतलाये गये हैं।

त्रयोदश में :– संभोग-शृङ्गार का तथा विविध प्रसङ्गों में नायिका की विशिष्ट क्रियाओं का वर्णन आता है।

चतुर्दश में :– विप्रलम्भ के विशेष तथा विप्रलम्भ की दस दशाएँ, रुष्ट नायिका को प्रसन्न करने के छह उपाय, जिनमें साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा और प्रसङ्गभ्रंश का समावेश है, बतलाये गये हैं।

पञ्चदश में :– वीर तथा अन्य रसों की विशेषताएँ वर्णित हैं।

षोडश में :– कथा, आख्यायिका आदि काव्य-प्रकारों का विवेचन आता है।

अलङ्कारों के वास्तव, औपम्य आदि मूल आधार निश्चित रूप से बतलाने वाला रुद्रट ही प्रथम है। इसके परिणाम स्वरूप कभी-कभी एक ही अलङ्कार दो आधारों पर आश्रित होने से दो प्रकार का माना गया है। जैसे सहोक्ति और समुच्चय को वास्तव और औपम्य के आधार से दो-दो प्रकार माना गया है।[१] उत्प्रेक्षा भी औपम्य तथा अतिशय के आधार से दो प्रकार की मानी है गई।[२] अन्य आलङ्कारिकों द्वारा अलग से माने हुए कुछ अलङ्कार रुद्रट ने अन्यत्र अन्तर्भूत कर दिये हैं। जैसे भामह और उद्भट के उपमेयोपमा और अनन्वय को रुद्रट ने उपमा में उन्तर्भूत कर दिया है तथा उनके नाम उपमेयोपमा और अनन्वयोपमा रखे हैं।[३] प्राचीनों के कुछ अलङ्कारों को, रुद्रट ने दूसरे नाम दिये हैं। भामह की "व्याजस्तुति" को रुद्रट ने "व्याजश्लेष" तथा "उदात्त" के द्वितीय प्रकार को "अवसर" कहा है।[४] अन्य अलङ्कारिकों ने जिन्हें अलङ्कार नहीं माना है ऐसे कुछ अलङ्कार रुद्रट ने माने हैं। जैसे मम्मट ने "हेतु" को अलङ्कार नहीं माना है किन्तु रुद्रट ने माना है।[५] मत[६], साम्य[७], पिहित[८] ये अलङ्कार पूर्ववर्ती अलङ्कारिकों से विवेचित नहीं हैं। रुद्रट की विशेषता इन बातों के लिए भी है :–

---

१. दे. का. अ. रु. ७-११, ८-३।
२. दे. का. अ. रु. ८-२, ९-२।
३. दे. का. अ. रु. ७-९-११।
४. दे. का. अ. रु. १०-११, ७-१०२।
५. दे. का. अ. रु. ७-८२।
६. दे. का. अ. रु. ८-५९।
७, वही, ८-१०५।
८. वही, ९-५०।

रुद्रट ने— १– सुप्रसिद्ध नौ रसों के साथ दसवाँ "प्रेयस्" रस भी जोड़ दिया है।[१]

२– रीतियों को अधिक महत्व नहीं दिया है।

३– गुणों का विवरण नहीं दिया है।

४– "भाव" अलङ्कार के द्वारा रुद्रट व्यङ्ग्यप्रक्रिया के निकटतम पहुंच गये हैं।

रुद्रट के सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी उपलब्ध होती है। पञ्चम अध्याय के चक्रबन्ध के संबन्ध में यह पद्य आया है —

"शतानन्दापराख्येन भट्टवामकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्॥"[२]

इस पद्य से यह जानकारी प्राप्त होती है कि रुद्रट का अन्य नाम शतानन्द था : पिता वामक थे। ये सामवेदाध्यायी थे। रुद्रट ने अन्य ग्रन्थकारों का उल्लेख नहीं किया है। तथापि आचार्यैः[३] से भरत का, तथा "अपरे रोगविमुक्ति" (वही १-९) से मयूर का उल्लेख किया गया-सा प्रतीत होता है। अध्याय ७-१०५ में सिप्रा नदी और मालव स्त्रियों का उल्लेख आया है।

रुद्रट ने भामह, दण्डी, उद्भट की अपेक्षा अधिक अलङ्कारों की चर्चा की है, तथा वह शास्त्रीय एवं संक्षिप्त भी है। अतः वह इनकी अपेक्षा कुछ बाद का हो सकता है। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने (९२५ ई.) इसका उल्लेख किया है।[४] प्रतिहारेन्दुराज ने भी रुद्रट के अनेक पद्यों का उल्लेख किया है। मम्मट ने भी[५] रुद्रट के मतों का उल्लेख करके उनकी चर्चा की है। ध्वनिप्रक्रिया की जानकारी रुद्रट को नहीं है। अतः वह ध्वनिकार का समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती हो सकता है। और उसका समय ८२५-८७५ ई. के मध्य में हो सकता है।

(ज्ञ) ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धनः

साहित्यशास्त्र में यह ग्रन्थ एक नये युग (ध्वनियुग) का आरम्भ करने वाला माना जाता है। व्याकरण में जो स्थान पाणिनि का है अथवा वेदान्त में

---

१. दे. का. अ. रु. १२-३, १५-१७।

२. दे. का. अ. रु. ५-१४।

३. का. अ. रु. १२-४।

४. दे. काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः।
का. मी. पृ. १०१)

५. का. प्र. झ. ५२१।

वेदान्तसूत्रों का है वही स्थान साहित्यशास्त्र में ध्वनिकार का है। इस ग्रन्थ के आज तक अनेक संस्करण छपे हैं। इसकी प्राचीन टीका अभिनवगुप्त रचित "लोचन" है। इसके तीन भाग हैं, कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इनमें से कारिका और वृत्ति एक के द्वारा रचित है अथवा इनके रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं इस विषय में विद्वानों का अभी तक ऐकमत्य नही हो पाया है। अभिनवगुप्त ने "लोचन" में अनेक स्थानों पर कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक-पृथक उल्लेख किया है। इससे यह शङ्का उठती है। उत्तरध्वनिकालीन प्रायः सारे आचार्य, कारिकाकार और वृत्तिकार की एकता मानते हैं। किन्तु बुल्हर, जेकोबी—कीथ, डा. डे, तथा काणे आदि विद्वान इन दोनों में विभिन्नता मानते हैं। म. म. काणे ने इस विषय पर विस्तार के साथ लिखा है। जिज्ञासु मूलग्रन्थ देखकर आत्मसन्तोष कर लें।[1] इनके मत का सार यह है कि कारिकाएँ किसी सहृदय नाम के या उपाधिधारी व्यक्ति द्वारा रचित हैं और वृत्तिग्रन्थ आनन्दवर्धन का है। आनन्दवर्धन सहृदय का शिष्य हो सकता है।[2] किन्तु यह विचार भी अन्तिम नहीं है। इस ग्रन्थ का महत्व जगन्नाथ पण्डित ने भी माना है।

आनन्दवर्धन के समय के विषय में अधिक निश्चित रूप से कहा जा सकता है। राजतरङ्गिणी में लिखा है कि "आनन्दवर्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मन (८५५-८८३ ई.) के साम्राज्य में प्रसिद्ध हुए।"[3] आनन्दवर्धन ने "उद्‌भट" का उल्लेख किया है। अतः वह ८०० ई. के बाद का होना चाहिये। राजशेखर, जिसने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है, का समय लगभग ९००-९२५ ई. है। अतः आनन्दवर्धन की साहित्यिक गतिविधि का समय ८६०-८९ ई. के मध्य का होगा।[4]

आनन्दवर्धन के वैयक्तिक जीवन के विषय में बहुत कम ज्ञात होता है। इण्डिया आफिस में विद्यमान एक पाण्डुलिपि के तृतीय उद्योत के अन्त में आनन्दवर्धन का उल्लेख "नोणोपाध्यायात्मज" किया है। आ. हेमचन्द्र ने भी "देवीशतक" के रचयिता आनन्दवर्धन का उल्लेख "नोणसुतः श्रीमदानन्दवर्धन-नामा" ऐसा किया है। अतः इनके पिता का नाम "नोण" था यह ज्ञात होता

---

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १५३-१८१।
२. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १८५।
३. दे. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः। राज. ५-३४।
४. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १९३।

है। इनके रचित अन्य दो ग्रन्थों ("विषमबाणलीला" और "अर्जुनचरित") का निर्देश अभिनवगुप्त तथा हेमचन्द्र ने किया है। इनमें से पहला ग्रन्थ प्राकृत में होना सम्भव है। आनन्दवर्धन ने स्वयं भी एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसका नाम "धर्मोत्तमा" टीका है। एक और ग्रन्थ "तत्त्वालोक" भी इनका रचित माना गया है।[1]

ध्वन्यालोक के ४ उद्योत हैं तथा उनमें ध्वनि की साङ्गोपाङ्ग चर्चा के साथ-साथ अन्य विषयों की चर्चा भी आयी है। उसका ठीक-ठीक रूप से उद्धरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। मूलग्रन्थ के अवलोकन से ही इसकी पूरी कल्पना की जा सकती है। तथापि संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है :–"ध्वनितत्त्व" काव्यप्रान्त का सार्वभौम तत्त्व है। इसके लिए ध्वनिविरोधी आपत्तियों का निराकरण किया गया है तथा "वाच्यार्थ" से "प्रतीयमान" की श्रेष्ठता स्थापित की है। फिर ध्वनि की श्रेणियाँ, भेद, प्रभेद आदि का निरूपण आया है। ध्वनि की सत्ता बहुत व्यापक है। कृदन्त, तद्धित, उपसर्ग, प्रत्यय, आदि से लेकर महाकाव्य तक उसकी सत्ता है। अन्त में गुण, रीति, अलङ्कार आदि सिद्धान्तों का ध्वनि में समावेश किया है। इसी के साथ अन्य विषयों की भी महत्त्वपूर्ण चर्चा इस ग्रन्थ में आती है। जैसे गुण और संघटना का रस के साथ सम्बन्ध। गुणों का तो रस के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। किन्तु संघटना रस के साथ होती भी है और नहीं भी होती। यह बात उदाहरणों द्वारा समझायी गयी है। अलङ्कारों की स्थिति भी रसानुकूल होनी चाहिये विरोधी नहीं। शृङ्गार, करुण-जैसे कोमल रसों में यमक आदि अनुकूल नहीं पड़ते। रूपक, पर्यायोक्त आदि की संगति अच्छी तरह बैठ जाती है। फिर रसपाक की तथा रसों के विविध अवरोध की चर्चा आई है। शान्तरस को भी मान्यता दी गयी है। चतुर्थ उद्योत में 'प्रतिभा' की अनन्तता का वर्णन है। प्रतिभाशाली कवि ध्वनि के उपयोग से प्राचीन उक्ति, भाव, अर्थ आदि को नूतन चमत्कृति प्रदान कर सकता है। काव्यक्षेत्र असीम है। प्रतिभाशाली कवियों की उक्तियाँ आपस में समान भी होती हैं जो असंभव नहीं हैं। यह साम्य बिम्ब, चित्र, देहवत् होता है। इनमें से प्रथम दो प्रकार स्पृहणीय नहीं हैं किन्तु तीसरा साम्य कोई दोषपूर्ण नहीं है। (सारांश के लिये दे. ध्वन्यालोक भू. पृ. ३५-३६),।

(ट) 'काव्यमीमांसा' रचयिता राजशेखर :

कन्नौज के राजा श्री महेन्द्रपाल तथा उसके पुत्र श्री महीपाल के सभा-पण्डित राजशेखर थे। इन दोनों राजाओं ने क्रम से ९०३ ई. तथा ९१७ ई. तक

---

१. दे. सु. कु. डे. पृ. १०९-११०।

शासन किया है। अतः राजशेखर का समय भी ८८० ई. से ९२० ई. के आसपास का मानना चाहिये। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वाक्पतिराज और उद्भट का स्मरण किया है। ये दोनों काश्मीर नरेश जयापीड़, जिसका समय ७७९ ई. से ८१३ ई. तक था, के समकालीन थे। अतः उक्त समय राजशेखर के अस्तित्व के लिए ठीक लगता है।[1]

राजशेखर महाराष्ट्र निवासी थे। इनके पिता तथा माता दर्दुक, और शीलवती और कुलनाम यायावर था। इस वंश में अकालजलद, सुरानन्द जैसे महापुरुष उत्पन्न हुए थे। इनकी पत्नी का नाम था (चौहान वंश में उत्पन्न) अवन्तिसुन्दरी। यह भी विदुषी थी तथा इसके आग्रह पर ही 'कर्पूरमञ्जरी' का रङ्गमञ्च पर अभिनय हुआ था। किन्तु इसकी कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। कुछ फुटकर पद्य अवश्य प्राप्त होते हैं। इनकी यायावर (एक व्रती विशुद्ध आचरण वाला ब्राह्मण) संज्ञा तथा कन्नौज के राजाओं का इनका उपाध्यायपद इनके ब्राह्मणत्व की सिद्धि करता है।[2] इनके बालरामायण, कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

"काव्यमीमांसा" अपूर्ण ही है – केवल एक अधिकरण जिसके १८ अध्याय हैं उपलब्ध है। इसमें रस गुण आदि का साक्षात् विवेचन नहीं मिलता। तथापि काव्यज्ञों के लिए यह अतिशय उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें अध्यायवार आए विषय ये हैं :—

१ला अध्याय :– शास्त्रसंग्रह तथा काव्यमीमांसा परम्परा। १८ विषयों के १८ आचार्यों के विचारों का संक्षेप राजशेखर ने किया है।

२रा अध्याय :– शास्त्रनिर्देश, वाङ्मय के विविध विभाग। छह अङ्गों के संदर्भ में अलङ्कार ७ वाँ अङ्ग यायावर मानते हैं। वह विद्या तथा विद्यास्थान है। साहित्य ५ वीं विद्या है।

३रा अध्याय :– काव्यपुरुषोत्पत्ति। सरस्वतीपुत्र के शब्दार्थ शरीर है, संस्कृत मुख, प्राकृत बाहू, अपभ्रंश जघन, पैशाची पाँव हैं। मिश्रभाषा वक्षस्थल है। वह सम, प्रसन्न एवं मधुर है, उदार और ओजस्वी है। भाषण में वह निपुण है। उसका आत्मा रस, रोम छन्द, वाक्केलि प्रहेलिका आदि है। अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार उसकी शोभावृद्धि करते हैं। इसका विवाह साहित्यविद्या

१. दे. का. मीमांसा भू. पृ. १५।
२. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २०२-२०६।

वधू से वत्सगुल्म (बरार का वाशीम) में होता है। बाद में प्रवृत्ति रीति, वृत्ति की व्याख्या की है।

४था अध्याय :– पदवाक्यविवेक। काव्यहेतु प्रतिभा, शक्ति, समाधि आदि का मतभेदपूर्वक प्रतिपादन। कवियों के भेद।

५वाँ अध्याय :– काव्यपाककल्प.। व्युत्पत्ति, शास्त्रकवि, काव्यकवि, उभयकवि का अर्थ निरूपण। कवि की दश अवस्थाएँ "पाक" के विविध अर्थ।

६ठा अध्याय :– पदवाक्यविवेक। शब्द की सुप्, समास्, तिङ् कृत, तद्धित ये पाँच वृत्तियाँ। वाक्य की व्याख्या तथा उसके १० भेद। काव्य की व्याख्या "गुणवदलङ्कृतं च वाक्यमेव काव्यम्।"

७वां अध्याय :– पाठप्रतिष्ठा। देव अप्सरा आदि के योग्य भाषाप्रयोग। वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियाँ। काकु के प्रकार। भारत की विविध भाषाएँ।

८वाँ अध्याय :– काव्यार्थयोनि। श्रुतिस्मृतिपुराणादि का विवेचन। लोकविरचना और प्रकीर्णक।

९ वाँ अध्याय :– अर्थव्याप्ति।

१० वाँ अध्याय :– कविचर्या तथा राजचर्या।

११-१३ अध्याय :– कवि अन्य कवियों के विचारों को किस प्रकार और कहाँ तक आत्मसात् कर सकता है इसका विचार।

१४-१६ अध्याय :– देश, पुष्प, वृक्ष आदि के सम्बन्ध में कविसमयों का निरूपण। अमूर्त हास्यादि का शुभ्ररूप आदि में वर्णन।

१७ वाँ अध्याय :– देश विभाग। भारत के चारों ओर विद्यमान पर्वत नदियाँ, देश आदि का विवेचन। प्रत्येक देश की विशिष्ट उपज। विविध मानवों के मुखवर्ण।

१८ वाँ अध्याय :– कालविभाग। विविध ऋतुओं में आने वाले पक्षी, पुष्प, वायु आदि।

(ठ) "काव्यकौतुक" के रचयिता भट्टतौत :—

भट्टतौत (अथवा तोत) अभिनव गुप्त के आचार्य रहे हैं। इनका रचित काव्यकौतुक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। तथापि इनके रस आदि के विषय में मतों का ज्ञान, अभिनव गुप्त के द्वारा नाट्यशास्त्र की अलङ्कार भारती तथा ध्वन्यालोक की लोचन टीका में किये उल्लेखों से तथा अन्य साहित्यशास्त्रियों के उल्लेखों से,

होता है। अभिनवगुप्त के गुरु होने से इनका समय[1] ९५०-९८० ई. के लगभग माना जा सकता है। इनके रसादिविषयक मत इस प्रकार हैं :-

(१) शान्तरस मोक्षफलक होने से समस्त रसों में प्रधान है।[2]

(२) समस्त रस नाट्यात्मक होते हैं। काव्य में भी जब तक प्रयोगात्मक (नाट्यायमान) अवस्था नहीं आती तब तक रसास्वाद नहीं होता है।[3] अर्थात् काव्य का विषय भी जब कविकौशाल से प्रत्यक्षायमाण होता है तभी उससे रसास्वाद होता है।

(३) काव्य में पात्रों की भाषा के सम्बन्ध में नियम नहीं है।[4]

(ङ) "हृदयदर्पण" रचयिता भट्टनायक :—

यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। केवल अन्य ग्रन्थों में इसके उल्लेख आते हैं। काव्यप्रकाश में दिया हुआ भट्टनायक का "भोजकत्ववाद" सुप्रसिद्ध है। भट्टनायक का समय ध्वन्यालोक तथा लोचन के मध्य का अर्थात् ९०० ई. से १००० ई. के मध्य का हो सकता है। राज-तरङ्गिणी में उल्लिखित[5] भट्टनायक इस भ. नायक से भिन्न है। क्योंकि यह उल्लेख शंकरवर्मन् (८८३-९०२ ई.) के समय का है। सा. द. परि. १ में उल्लिखित

"कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥"

---

१. दे. "सद्विप्रतौतवदनोदितनाट्यवेद - तत्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति॥
(ना. शा. अभिनवभारती प्रारम्भिक पद्य २४)
तथा "द्विजवरतौत निरूपितसन्ध्यध्यायार्थतत्वघटनेयम्।" (वही, अध्याय १९)

२. दे. मोक्षफलत्वेन चायं (शान्तो रसः) परमपुरुषार्थं - निष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके. इ.। लोचन अ. ३ का. २६।

३. दे. "तदाहुः काव्यकौतुके-प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः।" अ. भा. ना. शा. अ. ६ का. ३६।

४. दे. यदाह काव्यकौतुके - "न भाषानियमः पात्रे काव्ये........आदि।" अभि. ना. शा. अ. ३१।

५. दे. रा. तर. ५-५९।

यह पद्य "रसप्रदीपकार" प्रभाकर (१५८३ ई.) ने "हृदयदर्पण" का माना है।[1] भट्टनायक मीमांसाशास्त्र का पण्डित था। म. म. काणेजी के मत से वह नाट्यशास्त्र का पूर्ण रूप से टीकाकार नहीं था। भट्टनायक का मत था कि शास्त्रों से आदेश, पुराण इतिहास से जानकारी, तथा काव्य से आनन्द प्राप्त होता है।[2]

(ढ) "वक्रोक्तिजीवित" कार कुन्तक :

कुन्तक का यह ग्रन्थ श्री डे तथा श्री काणे को संपूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं था। किन्तु अब इस ग्रन्थ की संपूर्ण आवृत्ति उपलब्ध हो गयी है। इसके भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण (जो प्रायः अन्य कृतियों से उद्धृत हैं) तीन भाग हैं तथा ४ उच्छवास हैं। संपूर्णकृति का नाम "वक्रोक्तिजीवित" ही है। कुन्तक का समय १० वीं शती का उत्तरार्ध हो सकता है।

प्रथम उन्मेष में सरस्वती के मङ्गल के पश्चात् "लोकोत्तरचमत्कार-कारिवैचित्र्यसिद्धये। काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।" तथा "अलङ्कृतिरलङ्कारमुपोद्धृत्य विविच्यते। तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता" (उ. १ म.) आदि द्वारा ग्रन्थप्रयोजन, काव्यप्रयोजन तथा ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार आदि का कथन किया है। यह भी भामह के समान शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि" कह कर काव्य में शब्दार्थसाहित्य को स्वीकार करता है।[3] वक्रोक्ति का निरूपण "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीमणितिरूच्यते" इस प्रकार करता है। "स्वभावोक्ति" को वह अलङ्कार नहीं मानता है। ऐसे स्थलों में सर्वत्र संसृष्टि अथवा संकर अलङ्कार होगा, स्वभावोक्ति नहीं।[4] इसने कविव्यापारवक्रत्व के ६ भेद तथा उनके अनेक प्रभेद कह कर वाक्यवक्रभाव में समस्त अलङ्कारों का अन्तर्भाव किया है। आगे चल कर वह "वैचित्र्य" के माधुर्य, प्रसाद, ओज,

---

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २१५।

२. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २१४-१५।

३. दे. शब्दार्थौ सहितावेष प्रतीतौ स्फुरतः सदा। तथा
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ व. जी. १-१७,१८ आदि।

४. दे. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते॥ तथा "स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्तथा।" आदि व. जी. १-१२, १६।

लावण्य और आभिजात्य इन गुणों का वर्णन करता है तथा अन्त में वैचित्र्य, सौकुमार्य और उभय तीन मार्गों का वर्णन करता है। उभयमार्ग का नाम "मध्यमार्ग" है तथा उसे श्रेष्ठ माना है।

द्वितीय उन्मेष में वर्णविन्यासवक्रता का विस्तार से विवेचन आता है। अनेक अलङ्कारों का अधिक संख्या में एकत्र आना उसे मान्य नहीं है।[1] उपनागरिका आदि वृत्तियाँ "वर्णविन्यासवक्रता" में अन्तर्भूत होती हैं। "यमक" भी वर्णविन्यासवक्रता ही है। इस प्रकरण में विविध प्रकार की वर्णविन्यास-वक्रताओं का सविस्तार विवेचन है।

तृतीय उन्मेष में "वाक्यवैचित्र्यवक्रता" का विवरण आता है। वस्तुवक्रता भी इसी में आती है। वस्तु "सहज" और "आहार्य" होती है। "रसवदादि" अलङ्कारों के विषय में चर्चा कर उन्हें "अलङ्कार्य" माना है। अन्य अलङ्कारों-की चर्चा करके अपने सिद्धान्त के अनुसार उनकी संगति बतलायी है।

चतुर्थ उन्मेष में "प्रकरणवक्रता" और "प्रबन्धवक्रता" का निरूपण आया है। रघुवंश का कौत्सवृत्तान्त, शाकुन्तल का "दुर्वासा का शापवृत्त" आदि प्रकरणवक्रता के उदाहरण हैं। आगे चलकर "प्रबन्धवक्रता" का स्वरूप तथा उदाहरण बतलाये हैं। रामायण, महाभारत इसके उदाहरण हैं। इतिहास के एकदेश को लेकर रचित काव्य में भी यह वक्रता आती है। जैसे किरातार्जुनीय, शाकुन्तल आदि। कुन्तक ने ध्वनि का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानते हुए उसका भी अन्तर्भाव वक्रोक्ति में ही किया है और उसे "काव्यजीवित" मान लिया है।

(ण) आचार्य अभिनवगुप्त :

इनकी साहित्य-सर्जना का समय ९८० ई. से १०२० ई. तक का रहा है। कश्मीर में निवास करने वाले सर्वाङ्गीण प्रतिभा के ये एक महत्वशाली व्यक्ति हो गये हैं। शैवागम, शैवदर्शन, तन्त्रशास्त्र, स्तोत्रसाहित्य, साहित्यशास्त्र आदि पर आपने अधिकारपूर्ण रचना की है। आपका मत आगे के अनेक ग्रन्थकारों ने प्रमाणरूप से माना है। आचार्य मम्मट इनमें से अन्यतम हैं। इनके पिता चुखुल उपनाम से प्रसिद्ध नृसिंहगुप्त थे और माता का नाम था विमला अथवा विमलकला। इन्होंने अपना जीवन ब्रह्मचर्यावस्था में ही व्यतीत किया ऐसा लगता है। इनके अनेक गुरु थे। साहित्यशास्त्र के गुरु इन्दुराज तथा नाट्यशास्त्र के गुरु तोत थे। भरत के नाट्यशास्त्र पर इनकी रचित व्याख्या का नाम अभिनवभारती है और

---

१. दे. असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ।"

ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन है।[१] भट्टतौत रचित "काव्यकौतुक" पर भी इन्होंने एक व्याख्या, जिसका नाम "विवरण" है, रची थी। किन्तु अब वह अप्राप्य है।[२]

(त) "व्यक्तिविवेक" के रचयिता राजानक महिमभट्ट :—

अपनी राजानक उपाधि के कारण काश्मीरी पण्डित प्रतीत होने वाले महिमभट्ट का समय १०२० ई. से १०५० ई. के आसपास का रहा होगा क्योंकि आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इनका मत उल्लेखित किया है। वैसे तो व्यङ्ग्य का अन्तर्भाव अनुमान में करने वाले शङ्कुक आदि अन्य आचार्य भी हो गये हैं। किन्तु इस मत का विस्तार महिमभट्ट ने किया है। इनके अनुसार वाच्य अर्थ ही किसी सम्बन्ध के द्वारा प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान करा देता है। जैसे धूम वह्नि का। अर्थात् ध्वनि-प्रतीति व्यञ्जनावृत्तिजन्य न होकर अनुमेय ही है। तीन "विमर्शों में विभाजित अपने व्यक्तिविवेक" ग्रन्थ के आरम्भ में ही आचार्य महिमभट्ट लिखते हैं :

"अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ।।" व्य. वि. १।१

प्रथम विमर्श में :— ध्वनिकार की "येनार्थः शब्दो वा." आदि व्याख्या के दोष बतलाये हैं जिनकी संख्या दस है।[३] व्य. वि. रचयिता (शब्द के) केवल वाच्य और अनुमेय ऐसे दो ही अर्थ मानते हैं। वाच्य अर्थ से अनुमेय की प्रतीति होती है। लक्षणा का अन्तर्भाव अनुमान में ही होता है। शब्द में अभिधा को छोड़कर अन्य व्यापार नही होता। ध्वनिकार के द्वारा काव्य का सामान्य लक्षण किये बिना उसके ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य जैसे प्रभेद करना गलत है।[४]

द्वितीय विमर्श :— अनुचितत्व का विचार किया गया है। काव्यदोषों की चर्चा इस संबन्ध में आती है जिसे बहिरङ्ग अनौचित्य कहा गया है। विभावादि के अनौचित्य की चर्चा अन्तरङ्ग अनौचित्य के रूप में आई है। विधेयाविमर्श प्रक्रमभेद पौनरुक्त्य आदि दोषों की विस्तृत चर्चा तथा उसमें सुधार बतलाये हैं।

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २२६-२३२।
२. दे. सु. कु. डे. पृ. ११०।
३. दे. कथिता ध्वनिलक्ष्मणीति दश दोषाः। व्य. वि. प्र. विमर्श।
४. दे. किञ्च काव्यस्य स्वरूपमनाख्यायैव तयोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारद्वयमुक्तं तदप्रयोजकमेव। (व्य. वि. १ वि.)।

अन्त में यह भी कहा है कि इस प्रकार के दोष बड़े-बड़े कवियों की कृतियों में भी दिखायी देते हैं।

तृतीय विमर्श में :– ध्वन्यालोक में तथा अन्यत्र उद्धृत लगभग ४० उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव करके दिखाया है। रसों का ज्ञान भी अनुमान में ही आता है। "यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवति। विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते।"[१] तथा अन्त में लिखते हैं — "तदेवं सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमः श्रेयान् इति।" (व्य. वि. ३ वि.।)

(थ) "सरस्वतीकण्ठाभरण" के रचयिता भोज :

धारेश्वर राजा भोज का समय ई. १०१५ से १०५० के लगभग का माना जाता है। राजनीति के समान ही इनकी ख्याति संस्कृत-साहित्य संसार में फैली है। इनका प्रवेश प्रायः समस्त शास्त्रों में है। तथापि कविजगत् में इनका नाम विशेष लिया जाता है। इनके रचित अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें से एक "सरस्वतीकण्ठाभरण है। वैसे तो इनके इसी नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ व्याकरण आदि पर भी हैं। किन्तु हम यहाँ केवल साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ स. क. भ. की चर्चा करेंगे। इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण निकल चुके हैं तथा इस पर रत्नेश्वर और जगद्धर की टीकाएँ भी विद्यमान हैं। यह एक विशाल ग्रन्थ होने पर भी उसका स्वरूप संग्रहात्मक है। इसके ५ परिच्छेद हैं।

प्रथम परिच्छेद :– में काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण, काव्यभेद, पद, वाक्य और वाक्यार्थ के १६-१६ दोष, शब्द के और वाक्यार्थ के २४-२४ गुण वर्णित हैं।

द्वितीय परिच्छेद में – जाति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा आदि २४ शब्दालङ्कारों का विवेचन आता है।

तृतीय परिच्छेद में – जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म आदि २४ अर्थालङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं।

चतुर्थ परिच्छेद में – उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपन्हुति, समाधि आदि २४ प्रकार के शब्दार्थालङ्कार (उभयालङ्कार) निरूपित किये हैं।

पञ्चम परिच्छेद में – रस, भाव, नायक, नायिका, उनके भेद-प्रभेद, नाट्यसन्धियों, भारती आदि चार वृत्तियों आदि की चर्चा आती है।

इस ग्रन्थ में कुल ६४३ कारिकाएँ हैं। इनमें से कुछ काव्यादर्श, ध्वन्यालोक तथा अन्य कृतियों से यथाश्रुत रूप में उद्धृत हैं। दण्डी के काव्यादर्श

१. दे. व्य. वि. ३ विमर्श।

से लगभग २०० पद्य लिये गये हैं। भामह से बहुत कम। इसमें लगभग १५०० पद्यों का संग्रह पूर्ववर्ती कृतियों से किया गया होने से पूर्वकृतियों के कालनिर्णय की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत मत्हव है। किन्तु आज इन कृतियों के मूलग्रन्थ प्रायः उपलब्ध हो जाने से अब इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्व कुछ कम अवश्य हो गया है।

भोज के कुछ विचार स्वतन्त्र-से प्रतीत होते हैं। जैसे उपमा, आक्षेप, समासोक्ति आदि को उपमालङ्कार मानना, दोषों की प्रत्येक विभाग में १६ संख्या' अलङ्कारों की २४ संख्या तथा गुणों की भी २४ संख्या मानना। "रीति" को शब्दालङ्कार मानकर उसके ६ भेद (अवन्तिका और मागधी के साथ) करना आदि। परम्परा के अनुसार ८ रस मानकर भी शृङ्गार का इस प्रकार से वर्णन किया है मानो भोज केवल १ ही रस मानते हैं। इनके रचित अन्यग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश में कहा भी है कि शृङ्गार ही एकमात्र रस है।[1] भोज गुण और रसों को अलङ्कार मानते हैं।[2] भोज के अनेक विचारों का उल्लेख माणिक्यचन्द्र हेमचन्द्र आदि ने किया है।

भोज द्वारा रचित एक अन्य साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश है। इसका प्रकाशन तथा सम्पादन डॉ. राघववन् ने किया है। सं. सा. शास्त्र में इस ग्रन्थ के आकार का अन्य ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। १९२६ ई. में इसका कुछ भाग प्रकाशित हुआ था (प्रथम ३ प्रकाश)। इसमें साहित्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र की चर्चा की गई है। काव्य की व्याख्या "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" भामह के अनुसार दी गई है। शृङ्गार ही एकमात्र रस है आदि विचार इसमें आये हैं। इसके कुल ३६ प्रकाश हैं तथा इनमें काव्य, शब्द, अर्थ आदि की साहित्यिक तथा वैयाकरणी दृष्टि से विस्तार से चर्चा की गयी है। शृङ्गार के विविध भेद तथा नायक-नायिका का स्वरूप, व्यवहार, उनके सहायक आदि की चर्चा की गयी है। इस ग्रन्थ के समस्त पद्यों की संख्या अवश्य ही सहस्रों में होगी। प्रकाशित ३ प्रकाशों में ही ४६७ पद्य हैं जिनमें से २५१ प्राकृत में हैं। इस ग्रन्थ का परिपूर्ण रूप में प्रकाशित होना बहुत ही आवश्यक है।[3]

---

१. दे. शृङ्गार एक एव रसः इति शृङ्गारप्रकाशकारः "रत्नापण" में कुमारस्वामी के द्वारा शृङ्गारप्रकाश के मतप्रदर्शन के सम्बन्ध में उद्धृत।

२. दे. तत्र काव्यशोभाकरान् (दण्डी) इत्यनेन श्लेषोपमावद् गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनप्युपगृह्णाति। स. क. भ. ५ परि.।

३. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २४६-४९।

(द) क्षेमेन्द्र की "औचित्यविचारचर्चा" और "कविकण्ठाभरण" :

कश्मीर के राजा अनन्तदेव के समय क्षेमेन्द्र ने "औचित्यविचारचर्चा" की रचना की।[1] इनके रचित अनेक ग्रन्थ हैं। किन्तु साहित्य पर रचित तथा छन्द पर रचित (सुवृत्ततिलक) एक ग्रन्थ है। साहित्य इन्होंने आचार्य अभिनवगुप्त से प्राप्त किया था।[2] इनके पितामह सिन्धु और पिता प्रकाशेन्द्र थे। आरम्भ में ये शैव थे किन्तु पश्चात् सोमाचार्य ने इन्हें वैष्णवधर्म में दीक्षित किया था। इनका समय ९९० ई. से १०६६ के मध्य में पड़ता है।

"औचित्यविचारचर्चा" कारिका स्वरचित वृत्ति तथा संकलित उदाहरणों से बनी है। इसके अनुसार "रस" का सार औचित्य में है।[3] औचित्य का स्वरूप भी वे इस प्रकार बतलाते हैं :– "उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।" (औ. वि. च. का ७)। इसके बाद पद वाक्य प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस आदि का औचित्य बतलाया है। यह विवेचन ध्वन्यालोक के अनुसार किया है। इन्होंने अनेक कवियों का उल्लेख भी किया हैं। इनका अन्य ग्रन्थ कविकण्ठाभरण है जिसमें ५ सन्धियाँ और ५५ कारिकाएँ हैं तथा इसमें अकवि को कवि बनाने की विधि, कवि की शिक्षा, शिक्षित कवि के काव्य में चमत्कृति का प्रवेश, गुण-दोष आदि की चर्चा की गयी है। छात्रोपजीवी, पदकोपजीवी आदि कवि के प्रकार किये हैं। तृतीय सन्धि में दस प्रकार के चमत्कारों का वर्णन आया है।[4]

इस प्रकार हमने आ. मम्मट के पूर्व विद्यमान साहित्यशास्त्रीय परम्परा का तथा उन आचार्यों की साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की कल्पनाओं का संक्षेप से विवेचन किया है। इससे आचार्य मम्मट के समय तक साहित्यशास्त्र ने कितना विकास कर लिया था और आचार्य मम्मट ने उसके विकास में क्या योगदान दिया है यह समझने में हमें सहायता मिलेगी। आगे हम इसी विषय की चर्चा करेंगे।



---

१. दे. तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। औ. वि. च.।

२. दे. "श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।" बृहत्कथामञ्जरी।
हि. सं. पो. पृ. २५४ पर उद्धृत।

३. दे. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ औ. वि. च. ३।

४. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २५२-२५४।

(खण्ड – ख)

आ. मम्मट का साहित्य शास्त्र में योगदान

३– आ. मम्मट का साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों के विकास में योगदान :

हम पूर्व में ही बतला चुके हैं[1] कि साहित्यशास्त्रीय तत्वों (जैसे रस, अलङ्कार आदि) की चर्चा भरत के पूर्व भी निरुक्त, ब्र. सूत्र, पाणिनिव्याकरण आदि ग्रन्थों में कहीं-कहीं उपलब्ध होती है। तथापि आज उपलब्ध ग्रन्थों में इन तत्वों की सुसंबद्ध रीति से चर्चा सर्वप्रथम भरत, दण्डी, भामह आदि के ग्रन्थों में ही पायी जाती है। इन प्राचीन ग्रन्थों में भरत का ग्रन्थ सर्वप्राचीन है। तथापि उसमें प्रतिपादित विषयों के क्रमिक विकास के ज्ञान के लिए भरत के समय का तथा ग्रन्थ के स्वरूप का, निश्चित ज्ञान आवश्यक है। किन्तु वह होना अतिशय कठिन है। यह बात हम पूर्व में[2] भी स्पष्ट कर चुके हैं। अतः साहित्यशास्त्रीय तत्वों के विकास क्रम की चर्चा, भामह, दण्डी आदि के ग्रन्थों से ही, आरम्भ करना उचित प्रतीत होता है। हाँ, भरत की चर्चा प्रसङ्गानुसार आ सकती है। अब हम क्रम से साहित्यशास्त्र से (काव्य से) संबन्ध रखने वाले तत्वों में से एक-एक को लेकर उसकी चर्चा तथा आचार्य मम्मट ने उसमें क्या योगदान दिया है वह संक्षेप में बतलायेंगे।

(क) काव्य का प्रयोजन :

भरत ने तो काव्य को "क्रीड़नीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्। (ना. शा. अ. १) तथा विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। (ना. शा. अ. २) आदि के द्वारा, थके हुए मन को आनन्दित करने के हेतु, एक क्रीड़नीयक (खिलौने) के रूप में, तथा विनोदजननं (मन बहलाने का साधन) माना है। भामह ने उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों को, तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति तथा प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करती है[3] (भामह १-२) कहकर काव्यप्रयोजन के रूप में पुरुषार्थचतुष्टयप्राप्ति

---

१. दे. खण्ड 'क' पृ. ७४-७५।

२. दे. (खण्ड-क) पृ. ८७-८८।

३. दे. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

के हेतु आवश्यक नैपुण्य (वैचक्षण्य), कीर्ति और आनन्द बतलाये हैं। वामन ने सत्-सुन्दर काव्य कवि तथा पाठक दोनों के प्रीति का हेतु होने से, दृष्टफलवाला होता है तथा कीर्ति का हेतु होने से, अदृष्टफल (आमुष्मिक फल) वाला होता है,[1] ऐसा कह कर काव्य के दृष्ट (प्रीति) और अदृष्ट (कीर्ति) प्रयोजन माने हैं। राजा भोज ने कीर्ति प्रीतिं च विन्दति।[2] कह कर इसी पक्ष को स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, काव्यप्रयोजन के रूप में भोज तक "कीर्ति और प्रीति" प्रमुख रहे हैं। चतुर्वर्गफलप्राप्ति को पीछे की ओर ढकेल दिया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। (सा. द. १-१) कह कर इस प्रश्न को पुनः उठा कर उसे नया रूप देने का अवश्य प्रयास किया हैं। तथापि अन्य कवियों ने इन "पुरुषार्थों" की प्राप्ति के हेतु अन्य उपायों को ही योग्य माना-सा दिखायी देता है।

आचार्य मम्मट ने न केवल पूर्वाचार्यों के द्वारा दर्शित "कीर्ति" और "प्रीति" का संग्रह किया है, अपितु इस प्रीति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अन्य अवशिष्ट प्रयोजनों का भी संग्रह किया है। उनकी प्रयोजन बतलाने वाली कारिका इस प्रकार है:—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥[3]

इस कारिका का तथा इस पर के वृत्तिग्रन्थ का जब हम अवलोकन करते हैं तब हमें मम्मट की "प्रयोजनसंग्रहकुशलता" का ज्ञान भलीभाँति होता है। काव्य से यशप्राप्ति के साथ-साथ धनलाभ, व्यवहारज्ञान अमङ्गलहानि, तथा उपदेश भी प्राप्त होते हैं। इस उपदेश का स्वरूप भी "प्रभुसम्मित अथवा मित्रसम्मित" न होकर "कान्तासम्मित" है। काव्य से प्राप्त उपदेश से अरोचकता की निर्मिति नहीं होती। प्रत्युत उसमें सरसता होने से वह कान्ता के उपदेश के समान आकर्षक होता है। इस उपदेश का संक्षिप्त स्वरूप है – "रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्।" अर्थात् कृत्य में प्रवृत्ति और अकृत्य से निवृत्ति। धनलाभ, व्यवहारज्ञान, अमङ्गलनिवृत्ति आदि का प्रयोजनस्वरूप तो स्पष्ट ही है। मम्मट ने इन्हें भी बतला दिया है। किन्तु सबसे महत्व की बात है उसके द्वारा सिद्ध किया हुआ "सद्यः परनिर्वृत्ति" अर्थात् प्राचीन आचार्यों की "प्रीति" का

---

१. दे. का. सू. वा. १-१-५।
२. दे. स. कं. भ. १-२।
३. का. प्र. उ. १।

परमप्रयोजनत्व। प्राचीन आचार्यों ने इन प्रयोजनों का गौण-मुख्य-भाव स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया था। मम्मट ने वह स्पष्ट रूप से बतलाया है। अन्य प्रयोजन तो अन्य उपायों से (सेवा, शौर्य, राजसान्निध्य आदि से धन, यश, व्यवहारज्ञान आदि) प्राप्त हो सकते हैं किन्तु परनिर्वृति (परमानन्द) की प्राप्ति और वह भी सद्यः (काव्यपठनादि के समय ही) केवल काव्य से होती हैं। अतः यह प्रयोजन ही "सकलप्रयोजनमौलिभूत" है, यह बात कहने वाले आचार्य मम्मट ही हैं।

साहित्यशास्त्र के आचार्यों में एक वर्ग का आग्रह रहा है कि काव्य का प्रयोजन "उपदेश" ही माना जाय। यद्यपि वह अन्य शास्त्र तथा पुराण आदि से प्राप्त हो सकता है तथापि काव्य में उसे रोचक बनाकर प्रस्तुत करने की क्षमता होने से, काव्य का आदर करना, उसे धर्मशास्त्र आदि से बढ़कर मानना (उपदेश देने की कला में) ठीक है। क्योंकि रोग की हानि, कड़वी दवा से और मीठी दवा से एक-सी होती हो तो, कौनसा रोगी कड़वी दवा पीना स्वीकार करेगा ? कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ?[1] इसलिए "उपदेशदान" ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन है। किन्तु इस विचार का स्वीकार मम्मट आदि नहीं करते हैं। उनके अनुसार काव्य का प्रमुख प्रयोजन तो "सद्यः परनिर्वृति" ही है। कवि अपना काव्य रसिकों को आनन्द देने के लिए ही रचता है, तथा स्वयं भी उससे अलौकिक आनन्द का आस्वाद लेता है। उपदेश देने के लिए नहीं। उसके लिए तो धर्मशास्त्र आदि रचे गये हैं। अतः काव्य का प्रमुख प्रयोजन है "सद्यः परनिर्वृति"। "सरस उपदेश" यदि काव्य है तो वह भी प्रयोजन हो जाय किन्तु वह गौण होगा। यहाँ, धन आदि गौण प्रयोजन हैं। कवि इन धन आदि के लिए तो "तात् प्रति नैष यत्नः" भी कह सकेगा। आधुनिक साहित्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन के विषय में उठे हुए "नीत्युपदेश अथवा मनोरञ्जन" इस वाद का बीज भी आचार्य मम्मट की इस विचारधारा में ही निहित है।

यहाँ पर एक प्रश्न अवश्य उठता है। वह यह कि **क्या काव्य के प्रयोजन ही साहित्यशास्त्र के प्रयोजन हैं ?** काव्य कवि का कर्म तथा उसकी कृति है और साहित्यशास्त्र है उस कृति के तथा उसके मूल्यमापन के नियम। अर्थात् "काव्य" और उसका "शास्त्र" ये दो अलग-अलग तत्व होने से उनके प्रयोजन भी अलग-अलग होने चाहिये। किन्तु प्रमुख साहित्यशास्त्रियों ने काव्यप्रयोजन ही बतलाने की चेष्टा की है, तथा उन्हें ही अपने-अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रयोजन के

---

१. दे. सा. द. पृ. ४।

रूप में मान लिया है। काव्यप्रकाश में केवल इतना ही कहा है "इहाभिधेयं सप्रयोजनम्"।[1] तथा टीका में "अभिधेय" का अर्थ "काव्यम्" कहकर "परीक्षणीतया इति शेषः" ऐसा भी कहा है और आगे लिखा है "तेन काव्यफल-प्रदर्शनं नानुपयुक्तम् इत्याहुः"।[2] सा. दर्पणकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है[3] "यह ग्रन्थ काव्य का अङ्ग होने से काव्य के फल ही इसके भी फल होते हैं अतः काव्य के फलों का कथन किया जाता है।" इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत आचार्यों को यह ज्ञात था कि उनके द्वारा प्रतिपादन किये जाने वाले प्रयोजन उनके शास्त्रग्रन्थ के नहीं हैं। अपितु काव्य के हैं, जो इन शास्त्रीय नियमों से बनने वाला है। किन्तु इस विवेचन से शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रयोजनकथन की जबाबदारी कम नहीं होती। वस्तुतः इन ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थ के प्रयोजन का उल्लेख भी अपने-अपने ग्रन्थ में किया है जो इस ग्रन्थ की उपादेयता सिद्ध करता है। किन्तु उन्होंने उसे प्रधानता न देते हुए वह काव्य प्रयोजनों को ही दी है। काव्यप्रयोजन रसिक और कवि दोनों को काव्य की ओर आकर्षित करने वाले हैं। किन्तु शास्त्रीय ग्रन्थ के प्रयोजन तो केवल कवि तथा समीक्षक को (आ. मम्मट के अनुसार सहृदय को भी) आकर्षित करते हैं। किन्तु इससे इनका महत्व कम नहीं होता। अतः उनका भी उल्लेख यहाँ पर संक्षेप में कर देना अनुचित नहीं होगा। आचार्य दण्डी कहते हैं :–

> "व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
> मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः ।
> वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
> र्धन्यो युवेव रमते, लभते च कीर्तिम् । (का. द. ३।१८७)

आचार्य भामह कहते हैं :–

> शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।
> विलोक्यान्यनिबन्धाँश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥ (का. लं. भा १।१०)

काव्यमीमांसाकार राजशेखर कहते हैं :—

> "यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम् ।
> व्याकरोत् काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः ॥ (का. मी. पृ. ५)।

---

१. का. प्र. झ. पृ. ६।

२. वही पृ. ७।

३. दे. अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्वमिति काव्यफलान्याह ॥ (सा. द. पृ. ३)।

काव्यालङ्कार के रचयिता रुद्रट का कथन है :—

"अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य ।

काव्यमलङ्कर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति ।। (का. लं. रु. १।३) ।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन कहते हैं :—

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।

सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ।। (ध्व. लो. उ. ३।४५) ।

वक्रोक्तिजीवितकार आ. कुन्तक कहते हैं :—

"लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।

काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।।" (व. जी. १।२)

आचार्य मम्मट का कथन है :—

"लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म – उपदेशं च

कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।" (का. प्र. पृ. १०)

इस प्रकार अनेक आचार्यों के उद्धरणों का अर्थ हृदयङ्गम करने से ज्ञात होता है कि साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना का प्रयोजन है :– कवि अपनी कृति को निर्दोष बना सके, विद्वान् समीक्षक वर्ग आदरयुक्त भावना से पढ़कर उसका मूल्यमापन कर उसे श्रेष्ठ ठहराये । इसलिए इन शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की गयी है । ये शास्त्रीय ग्रन्थ कवि की तथा समीक्षक की बुद्धि का संस्कार करते हैं, तथा उसे सक्षम बनाते हैं ।[1] आचार्य मम्मट ने कवि के साथ-साथ सहृदय को भी "उपकार्य" पक्ष में लाकर रख दिया है । अतः सहृदय के लिए भी यह शास्त्र पढ़ना उपकारक होगा । अर्थात् राजशेखर–जैसे शास्त्रकार केवल कवियों के लिए शास्त्र की रचना मानते हैं, ध्वनिकार आनन्दवर्धन–जैसे इस शास्त्र का प्रयोजन "कर्तुम् ज्ञातुम् वा" (ऊपर देखिये) ऐसा उभयविध मानकर समन्वयवाद उपस्थित करते हैं, तो आ. मम्मट–जैसे विद्वान उसमें रसिक आस्वादक का भी समावेश करके उस समन्वय में पूर्णता लाते हैं ।

(ख) काव्य के हेतु :

आचार्य भामह के अनुसार – प्रतिभा के साथ शब्दार्थ-ज्ञान, पण्डितों की सेवा, तथा अन्यरचित ग्रन्थों का परिशीलन ये तीन हैं । उनमें प्रतिभा की प्राप्ति किसी को ही होती है ।[2]

---

१. ऊपर दे. "कर्तुरुद्वारा मतिर्भवति" । (रुद्रट)

२. दे. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः । तथा
"शब्दाभिधये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।
बिलोक्यान्य-निबन्धधाँश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।" का. लं. भा. १-५, १० ।

आचार्य दण्डी के अनुसार – निसर्गप्राप्त प्रतिभा, निर्मल अध्ययन, तथा सतत अभ्यास ये तीन काव्यसम्पदा के कारण हैं।[1]

आचार्य रुद्रट भी यही कहते हैं।[2]

किन्तु राजशेखर का अभिमत है – केवल प्रतिभाशक्ति ही काव्य में हेतु है।[3]

आचार्य मम्मट का कथन है काव्य की उत्पत्ति के लिए शक्ति, निपुणता और अभ्यास ये तीन सम्मिळित रूप से, कारण हैं। जैसे दण्ड, चक्रादि मिलकर घट का निर्माण करते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र रूप से कारण नहीं है। यही बात, उन्होंने "शक्तिर्निपुणता०" आदि काव्यहेतु का निरूपण करनेवाली कारिका की व्याख्या करने वाले वृत्ति-ग्रन्थ में, "समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।"[4] के द्वारा स्पष्ट कर दी है। साथ ही प्रतिभाशक्ति आदि का स्वरूप भी स्पष्ट रूप से बतला दिया है। समन्वयवादी मम्मट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्बन्ध में अपने विचार आचार्य दण्डी, तथा रुद्रट के विचारों से मिलते जुलते ही रखे हैं। कुछ शब्दों का हेर-फेर हो सकता है। किन्तु जो बात कहने के लिए रुद्रट ने ४ कारिकाओं की रचना की, वही बात, मम्मट ने, संक्षेप में केवल १ कारिका में सयुक्तिक बनाकर कह दी है। उदाहरण के रूप में मम्मट की संक्षेपकुशलता देखना हो तो प्रस्तुत कारिका का एक अंश "काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यासः।" इतना ही लें तथा उसकी तुलना में देखें रुद्रट ने पूरी कारिका रच कर वही अर्थ कहा है। रुद्रट की कारिका है :– "अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम्।
नक्तन्दिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम् ॥"[5]

आचार्य मम्मट के समय तक के आचार्यों में काव्यहेतुओं के संबन्ध में किसी प्रकार का निश्चय नहीं हो पाया था। केवल "प्रतिभा" के विषय में वे एकमत हो सकते थे। वामन के अनुसार भी प्रतिभावान व्यक्ति ही काव्यशिक्षा के पात्र थे। उसने कवियों के "अरोचकी" और सतृणाम्यवहारी" अर्थात्

---

१. दे. "नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः ॥" का. द. १।१०३।
२. दे. "त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः।" का. अ. रु. १-१४।
३. दे. "सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः।" का. मी. पृ. ५७।
४. दे. का. प्र. झ. पृ. १३।
५. दे. का. अ. रु. १-२०।

विवेकशील और अविवेकी ऐसे दो भेद मान कर "अरोचकी" को ही शिष्य माना है।[1] अन्तर केवल इतना ही है कि वामन ने "प्रतिभा" शब्द का उल्लेख न कर उसे "विवेक" का नाम दे दिया है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति का अटूट संबन्ध राजशेखर को मान्य है। दण्डी, आनन्दवर्धन आदि को "अमन्द अभियोग" भी मान्य हैं। दण्डी के समान आनन्दवर्धन ने भी कहा है— "ध्वनि का गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ जो यह मार्ग प्रदर्शित किया है, इसके स्वाध्याय से कवि प्रतिभा का अनन्त विस्तार संभव है।[2] आचार्य मम्मट ने इन तीनों हेतुओं को लगभग समान महत्व की दृष्टि से देख कर अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। हाँ, शक्ति को कवित्व का बीज मानकर उसके बिना काव्य का प्रसार असंभव अथवा उपहसनीय माना है।[3]

एक बात यहाँ पर ध्यान रखने योग्य है। मम्मट के बाद भी काव्यहेतु के संबन्ध में आचार्यों में चर्चा चल ही रही थी। १४ वीं शताब्दी के वाग्भट ने कहा है— "कवियों की काव्यकृति में केवल प्रतिभा ही कारण है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसी पर संस्कार करते हैं। वे काव्य के हेतु नहीं हैं।[4] १७ वीं शती के आचार्य जगन्नाथ पण्डित भी "काव्य के कारण के रूप में केवल प्रतिभा का ही स्वीकार करते हैं।[5] किन्तु केवल प्रतिभा से काम चलने वाला नहीं है। व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी स्वीकार करना ही होता है। फिर उन्हें काव्य हेतु अथवा प्रतिभा का संस्कारक मानना यह बात दूसरी है। मध्यम मार्ग में तो तीनों का स्वीकार करना ही है और आचार्य मम्मट ने उसी का स्वीकार किया है। साथ ही "प्रतिभा" का महत्व भी वे कम नहीं कर रहे हैं।

(ग) काव्यलक्षण :

भामह ने तथा उसके बाद के अनेक साहित्यशास्त्रकारों ने काव्य का लक्षण अथवा स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। हम यहाँ पर आचार्य मम्मट तक के प्रमुख साहित्यशास्त्रियों के लक्षण देकर उनकी विशेषता बतलाने का प्रयास

---

१. दे. "पूर्वे शिष्या विवेकित्वात्" का. सू. वा. १-२-२।

२. दे. ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीवां प्रतिभागुणः।" ध्व. लो. ४।१

३. दे. का. प्र. पृ. ११-१२।

४. दे. प्रतिमैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।
व्युत्पत्यभ्यासौ तु तस्या एव संस्कारकौ न तु काव्यहेतू।
काव्यानुशासन की टीका अलङ्कारतिलक पृ. २ वाग्भट।

५. दे. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।" रसगङ्गाधर।

करेंगे । इन उद्धृत किये जाने वाले अवतरणों को "लक्षण" कहना न्यायपरिभाषा के अनुसार कदाचित ठीक नहीं होगा । न्याय में "असाधारणधर्म" को अर्थात् अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से रहित, केवल लक्ष्य में रहने वाले धर्म को लक्षण कहा है । जैसा पृथ्वी का गन्धवत्त्व । इस दृष्टि से भामह का "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।" यह लक्षण समस्त वाङ्मय का बोधक होने से अतिव्याप्त होगा । अतः हम इन अवतरणों को लक्षण न कहते हुए परिचायक धर्म कहेंगे जो अधिक उचित होगा । आ. बलदेवजी उपाध्याय इन्हें बहिरङ्ग लक्षण कहते हैं ।[1]

(अ) आचार्य भामह काव्य का परिचय देते हुए काव्यालङ्कार में कहते हैं :

> "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।" (१।१६)
> "शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।" (१।१५)
> "वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः । (१।३६)

अर्थात् चमत्कारजनक शब्दार्थोभयालङ्कारयुक्त शब्द और अर्थ का साहित्य याने काव्य ।

(आ) आचार्य दण्डी के अनुसार :

> "तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।
> शरीरन्तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।" का. द. १-१०

अर्थात् शब्दों के द्वारा काव्य का शरीर तथा उसके अलङ्कार बतलाये गये हैं । इष्ट अर्थ से युक्त पद-समुदाय ही काव्य का शरीर है ।

(इ) आचार्य रुद्रट का काव्यस्वरूप उसके "काव्यालङ्कार" में बिखरा हुआ है । यथा "ननु शब्दार्थौ काव्यम्." (२-१)

> "तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।" (१२-२)
> "अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
> क्षोदक्षमक्षुण्णं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ।" (२-८)
> "रचयेत्तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम् ।" (२-९)

अर्थात् काव्य में प्रयत्नपूर्वक रस का समावेश किया जाता है । उसमें परिपूर्ण तथा अपेक्षित अर्थ बतलाने वाले शब्दों का प्रयोग होता है और काव्य में ऐसे ही शब्दों की रचना हो जिससे रचना में सुन्दरता आ जाय ।

---

१. दे. संस्कृत आलोचना पृ. ४१ ।

(ई) आचार्य वामन के अनुसार :—[1]

"काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ।"

काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । वृ. १-१-१

सौन्दर्यमलङ्कार : "(१-१-२) । स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् :" १-१-३

"रीतिरात्मा काव्यस्य ।" १-२-६

"विशिष्टा पदरचना रीतिः ।" १-२-७

"विशेषो गुणात्मा ।" १-२-८

अर्थात् काव्य अलङ्कार के कारण ग्राह्य होता है। काव्य शब्द का व्यवहार गुण तथा अलङ्कारों से शोभित शब्द और अर्थ में होता है। अलङ्कार का अर्थ सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य दोषों के त्याग से और गुण और अलङ्कारों के ग्रहण से आता है। काव्य की आत्मा रीति है। विशेष प्रकार की पदों की रचना रीति कहलाती है।

(उ) आ. कुन्तक अपने "वक्रोक्तिजीवित" में काव्य का लक्षण इस प्रकार देते हैं :

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्..........।"

अर्थात् वक्रोक्तियुक्त बन्ध (पदरचना) में सहभाव से व्यवस्थित शब्द-अर्थ ही काव्य है।

(ऊ) भोज के अनुसार काव्य का स्वरूप इस प्रकार है :

"निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति ।" स. कं. म.

इसका अर्थ स्पष्ट है।

(ए) ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार :

"काव्यस्य आत्मा ध्वनिः ।............
अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां
बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् ।" (ध्व. लो. १-१)

अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है। बहुत दिनों से काव्य लक्षण लिखने वालों की बुद्धि में रञ्चमात्र भी नहीं आया हुआ यह ध्वनितत्व है।

---

१. दे. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ।

(ऐ) आचार्य मम्मट अपने काव्यप्रकाश में काव्य का स्वरूप इस प्रकार लिखते हैं —

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। का. प्र. पृ. १३ अर्थात् दोषरहित, गुणयुक्त एवं कहीं-कहीं स्फुट अलङ्कार से रहित भी, शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं।

इन समस्त काव्य-स्वरूप-परिचायकों का संकलित रूप से विचार किया जाय तो पता चलता है कि —

आचार्य भामह जिस "शब्दार्थ के साहित्य" को काव्य कहते हैं उससे काव्य का व्यवच्छेदक धर्म ज्ञात नहीं होता। ऐसा लगता है कि आचार्य भामह अपने पूर्ववर्ती किसी एकाङ्गी मत के विषय में, जिसमें केवल शब्दों को अथवा केवल अर्थ को काव्य कहा हो, अपनी विमति "शब्दार्थौ सहितौ" कहकर प्रगट कर रहे हैं। यही बात शब्दार्थालङ्कारों के विषय में हैं। काव्य में अलङ्कारों की आवश्यकता को बतलाने के स्थान पर आचार्य भामह उनकी द्विविधता (शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार) की "इष्टता" प्रकट करते हैं। अर्थात् अलङ्कार को भी व्यवच्छेदकधर्म के रूप में भामह ने स्पष्ट रूप से नहीं कहा है। केवल एक धर्म विशेष रूप से उन्होंने कहा है और वह है "वक्राभिधेयशब्दोक्ति" अर्थात् चमत्कारजनक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग। यही आ. भामह का काव्यलक्षण प्रतीत होता है। इसमें रस, गुण, रीति आदि विशेषों की चर्चा नहीं आयी है। भामह को इनमें से कुछ विशेषताओं का ज्ञान अवश्य था, किन्तु वह स्थूल रूप से था, तथा काव्य के व्यवच्छेदक धर्म के रूप में उनकी आवश्यकता के विषय में उन्होंने ध्यान नहीं दिया था।

आचार्य दण्डी केवल "पदावली" को यदि वह इष्ट अर्थ से युक्त है, काव्य मानते हैं। अर्थात् इनके मत में "पद" को अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना संमत है, ऐसा लगता है। तथा इस लक्षण में वे "शरीर" शब्द का प्रयोग करके काव्य के आत्मा के विषय में जिज्ञासा निर्माण कर देते हैं। शरीर के साथ अलङ्कारों का भी निर्देश वे करते हैं। उन्होंने आत्मा की चर्चा नहीं की है। सारे ग्रन्थ में काव्य-शरीर का विस्तार के साथ विवेचन है। अर्थात् आचार्य दण्डी ने भी। इष्टार्थ का विवेचन अपने काव्यलक्षण में स्पष्टरूप से करना आवश्यक नहीं समझा है। आगे के ग्रन्थ में भी वैदर्भी आदि "मार्गों" की तथा उनके गुणों की और अलङ्कारों की चर्चा है। रस का विवेचन भी प्रमुख रूप से नहीं किया गया है।

आचार्य रुद्रट काव्यलक्षण एक स्थान पर नहीं कहते हैं। तथापि उनके ग्रन्थ में से ढूँढने पर काव्य के परिचायक धर्मों का पता चल जाता है। इनके मत में, काव्य में रस का, अपेक्षित अर्थ को बतलाने वाले चमत्कृतिजनक शब्दों का तथा सुन्दर रचना का, प्रयोग आवश्यक है। आ. रुद्रट को गुण, अलङ्कार, रीति आदि विशेषों का भलिभाँति ज्ञान है। तथापि काव्य के लक्षण में केवल "रस" का उल्लेख किया है और साथ ही चमत्कृतिजनक शब्दों के प्रयोग का भी। अर्थात् आगे चलकर जिन विशेषताओं की उन्होंने विस्तार से चर्चा की है वे सारी बातें काव्य में सौन्दर्य और चमत्कृति लाने वाली है, तथा काव्य में उनका निवेश आवश्यक है, ऐसा उनका अभिप्राय हो सकता है। किन्तु काव्यलक्षण तो स्थूल रूप में ही है। काव्य के लक्षण में "रस" का प्रयोग करने वाले रुद्रट कदाचित् प्रथम साहित्यशास्त्री हैं।

आचार्य वामन भी काव्यलक्षण में अलङ्कार अर्थात् सौन्दर्य का अस्तित्व आवश्यक मानते हैं। "रीति" शब्द के अर्थ के प्रथम विवेचक वामन हैं। वे रीति को काव्य की "आत्मा" मान कर भी उसे विशिष्ट प्रकार की 'पद-रचना' ही कहते हैं। उन्होंने लक्षण में रस की चर्चा नहीं की है। गुण और अलङ्कारों की चर्चा अवश्य की है। वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने साहित्यशास्त्रीय पदावली का — रीति, गुण, अलङ्कार आदि का प्रामुख्य से प्रयोग किया है। इतना होने पर भी वामन का काव्यलक्षण आधुनिक हिन्दी परिभाषा में केवल "कलापक्ष" का ही निर्देश करता है। भावपक्ष का नहीं। उनकी "आत्मा" भी "शरीर" का ही एक अङ्ग है।

आचार्य कुन्तक का काव्यलक्षण भामह के काव्यलक्षण जैसा ही है। अर्थात् आचार्य भामह के काव्यलक्षण के गुण दोषों का पात्र यह लक्षण भी होता है। विशेष यही है कि भामह के पश्चात् लगभग ३-४ शताब्दियों के व्यतीत हो जाने पर भी आचार्य कुन्तक अपने काव्यलक्षण में वह सूक्ष्मता नहीं ला सके हैं जो इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने लाकर दिखायी है।

राजा भोज अपने काव्य लक्षण में प्रायः उन समस्त विशेषताओं का निर्देश करते हैं जो एक काव्य में हुआ करती है। उसमें रस, गुण, अलङ्कार, दोषाभाव आदि का अस्तित्व आवश्यक रूप में कहा गया है। तथापि आत्मा, शरीर आदि शब्दों का सहारा लेकर अथवा अन्य रूप से इन तत्वों का गुण-प्रधान भाव इस लक्षण में नहीं बतलाया गया है।

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन साहित्यशास्त्रीय विवेचन में क्रान्ति लाने वाले पण्डित हो गये हैं। उन्होने "ध्वनि" तत्व को काव्य की आत्मा बतलाया

है। उनका दावा है कि प्राचीन साहित्यशास्त्रियों का इस तत्व की ओर बिलकुल ध्यान नहीं गया था। काव्य की आत्मा का ही निर्देश करने वाले ध्वनिकार उसके "शरीर" के बारे में कुछ भी नहीं कहते हैं। कदाचित इस अभिप्राय से कि, प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने केवल "शरीर" की चर्चा की होने से उसका प्रतिपादन करना अब उतना आवश्यक नहीं है जितना उसके प्रमुख तत्व आत्मा का परिचय करा देना (आवश्यक) है। अतः उनको भी शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार, रीति आदि तत्वों का महत्व ग्राह्य है, तथा काव्यलक्षण में उनको योग्य स्थान देना अभीष्ट है। किन्तु उनका काव्यलक्षण केवल "आत्मा" का लक्षण है सम्पूर्ण काव्य का नहीं यह तो मानना ही पड़ेगा।

इन समस्त लक्षणों को दृष्टिगत रखने पर यह मानना ही पड़ेगा कि आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण परिपूर्णता की ओर अधिक मात्रा में झुकनेवाला है। आचार्य मम्मट शब्दार्थों को काव्य मान कर उनके विशेषण के रूप में अदोषौ, सगुणौ, पुनः क्वापि अनलङ्कृती कहते हैं। इनमें भी "सगुणों' से "सरसौ" भी उपस्थित हो जाता है। गुण रसों के धर्म हैं। यह बात काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में स्पष्ट की गयी है। अतः धर्म के ग्रहण से धर्मी का – रस का ग्रहण हो जाता है।[१] रही रीतियों की बात। उनका भी ग्रहण "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" से हो जाता है। इस पद का, "कहीं-कहीं स्फुटालङ्कार न हो तो भी" ऐसा अर्थ करके मम्मट के काव्य में अलङ्कारों की भी आवश्यकता प्रतिपादित की है।[२] इन अलङ्कारों में से अनुप्रास में ही रीतियों का अन्तर्भाव मम्मट ने कर दिया है।[३] अर्थात् आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रायः समस्त अङ्गों का ग्रहण करके अपना काव्यलक्षण सर्वाङ्गीण बनाया है। पूर्वोक्त सारे लक्षणों में यह लक्षण अपनी समानता किसी से भी नहीं रखता है। आगे चल कर अन्य विश्वनाथ आदि आचार्यों ने, इसमें भी दोषप्रदर्शन की कलाबाजी कर दिखायी है। वह कुछ गलत समझ के कारण हुआ है। न्यायशास्त्रीय प्रणाली से काव्य का लक्षण करने का प्रयत्न इन साहित्य शास्त्रकारों का नहीं रहा है। अपितु

---

१. दे. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः। का. प्र. झ. पृ. ४६२।

२. दे. "क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ
क्वचित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। का. प्र. झ. पृ. १७।

३. दे. "केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।
एतास्तिस्त्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः। (का. प्र. झ. पृ. ४९८)।

महत्व के विशेष बतलाना ही उनका उद्देश्य था यह हम आरम्भ में ही कह आये हैं, और विश्वनाथ आदि इन पङ्क्तियों को लक्षण की कसौटी पर कस रहे हैं। अस्तु।

(घ) काव्य के भेद :

आचार्य भामह से लेकर अनेक आचार्यों ने काव्य के बहुमुखी भेद किये हैं। जैसे गद्य, पद्य, मिश्र, दृश्य, श्रव्य। गद्य के भी कथा आख्यायिका पद्य के महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि। किन्तु इन भेदों को आचार्य मम्मट ने महत्त्वपूर्ण न मानते हुए अपनी शैली से उत्तमकाव्य, मध्यमकाव्य और अधम काव्य ऐसे भेद किये हैं। ये सब भेद व्यङ्ग्यार्थ को केन्द्रबिन्दु मानकर किये हैं। ध्वनिकार से यह दिशा मम्मट ने ग्रहण की-सी दिखायी देती है।[१] किन्तु आचार्य मम्मट ने इस तीसरे प्रकार के काव्य को "अवर" तथा "अव्यङ्ग्य" कहा है। "अव्यङ्ग्य" शब्द का स्पष्टीकरण करते समय उन्होंने "अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्"[२] कहकर इस चित्रकाव्य में भी व्यङ्ग्यार्थ के अस्तित्व का निराकरण नहीं किया है। उसके होने पर भी कवि का तात्पर्य उसमें नहीं होता यह आशय प्रगट किया है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है। पञ्चम उल्लास में गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद बतलाते हुए आचार्य मम्मट ने "अस्फुटव्यङ्ग्य" वाला एक भेद बतलाया है।[३] यहाँ पर जो भी व्यङ्ग्य "अस्फुट" है तथापि वह उतना अस्फुट नहीं होता जितना "चित्रकाव्य" में होता है। कवि का तात्पर्य उसे प्रतीत कराने में अवश्य रहता है किन्तु वाच्यार्थ की तुलना में वह व्यङ्ग्यार्थ स्पष्टतया प्रतीत नहीं हो सकता है। तथापि चित्रकाव्य की अपेक्षा वह स्फुटतर होता है।[४] पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने इस प्रकार के भेद नहीं किये हैं। जहाँ पर वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारी हो वह उत्तमकाव्य होता है, जिसे ध्वनि भी कहते हैं। व्यङ्ग्यार्थ वाच्य से समान अथवा कम चमत्कारी हो तो वह मध्यमकाव्य अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है, और जिसमें व्यङ्ग्य का चमत्कार न होकर केवल शब्द और अर्थ का ही चमत्कार होता है वह अधम-काव्य कहलाता है। इसका दूसरा नाम शब्दचित्र और वाच्यचित्र है।[५] ये तीनों

१. दे. ध्व. लो. ३-४३।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. २२।
३. दे. का. प्र. झ. पृ. २०८।
४. दे. ध्व. सि. व्य. वृ. पृ. १४७।
५. दे. का. प्र. झ. सूत्र ४, ५, ६ पृ. १९, २१, २२।

भेद काव्य के आत्मभूत व्यङ्ग्यार्थ को लेकर किये होने से अन्तरङ्ग हैं। अन्य शास्त्रियों के भेद स्पष्ट ही बाह्य दिखायी देते हैं। इन्हीं भेदों का स्वीकार करके आगे के साहित्यशास्त्रियों ने अन्य भेद-प्रभेद करने की चेष्टा की है।[1]

(द) रसतत्व का विवेचन :

रसतत्व एक मनोवैज्ञानिक तथ्य होने से इसका भान अतिप्राचीन समय से विचारकों को होते आया है। इसकी चर्चा भी चली है। "रसो वै सः।" रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति॥ आदि उपनिषद्वाक्य (दे. रसगङ्गाधर पृ. २७) इसी बात की सत्यता प्रकट करते हैं। भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में "आनुवंश्य" संज्ञक कुछ पद्य तथा "आर्याएं" रससम्बन्ध में पूर्वाचार्यों के मतप्रदर्शन के स्वरूप में दी हैं।[2] नाट्यशास्त्र में तो रसचर्चा प्रमुख रूप से की गयी है। भरत का रससूत्र सर्वप्रसिद्ध है ही। आ. अभिनवगुप्त ने अपनी "अभिनवभारती" में भरत के "रस" का आशय अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है। किन्तु भरत की "रसचर्चा नाट्य की दृष्टि से ही की गयी है। भरत के लिए "काव्य" का अर्थ ही दशरूप था। रसों का अस्तित्व केवल नाट्य में ही था, लोक में नहीं।[3]

किन्तु भरत के पश्चात् रस की सुसंबद्ध चर्चा केवल ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने की है, जो उपलब्ध है। इस समय के मध्यवर्ती जितने साहित्याचार्य हो गये हैं उन्हें रसतत्व की जानकारी अवश्य थी।[4] किन्तु उसकी विस्तृत चर्चा उन्होंने नहीं की है। उन्होंने काव्य के, महाकाव्यादि अनेक भेदों की चर्चा करने पर भी, उसमें "रसतत्व" का क्या स्थान होता है इस बात को स्पष्ट नहीं किया है। कदाचित् उन पर भरत के मत का, (रसों का स्थान नाटकों में ही है इस मत का) प्रभाव पड़ा होगा। हाँ, काव्य में सौन्दर्य, शोभा, चमत्कृति आदि तत्वों की आवश्यकता उन्होंने मान्य की है। रसवत्, प्रेय, उर्ज्वस्वी, आदि भाव संबन्धी "अलङ्कार" भी माने हैं। आ. दण्डी का कथन है— काव्य "सरस" बनाने में अलङ्कार अवश्य कारण बनते हैं, तथापि इसका दायित्व विशेषतया "अग्राम्यता" पर ही है।[5] आचार्य भामह भी कहते हैं— शृङ्गार आदि रसों का

---

१. दे. रसगङ्गाधर के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अधम ये चार भेद।

२. दे. हि. सं. पो. का. पृ. ३४०।

३. दे. काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव । नाट्य एव रसा न लोके।" अभिनवभारती भा. १ पृ. २९२।

४. दे. भा. सा. शा. उपा. पृ. ९।

५. दे. "कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति। तथाप्यग्राम्यतैवेनं भारं वहति भूयसा।" का. द. १-६२।

स्पष्ट दर्शन जिसमें होता है वह "रसवत्" है।[1] तथा महाकाव्य में जनस्वभाव तथा विविध रसों का अलग-अलग प्रयोग आवश्यक है।[2] आचार्य वामन भी "कान्ति" गुण के वर्णन में "दीप्तरसत्व" का प्रयोग करते हैं ।[3] म. म. काणे के अनुसार" प्राचीन समय में सामान्यतः नाट्यसाहित्य और काव्यसाहित्य पृथक्-पृथक् माना जाता था। साहित्यशास्त्र की (काव्यशास्त्र ?) चर्चा में "रसचर्चा" का अन्तर्भाव, आरम्भ में नहीं किया गया था। आचार्य रुद्रट ही प्रथम लेखक हैं जिन्होंने अपने "काव्यालङ्कार" में रसचर्चा को स्थान दिया है । रुद्रट के पूर्व (लगभग १०० वर्ष पूर्व) रचित "शिशुपालवध" महाकाव्य में (सर्ग १४ पद्य ५०) "रस" का उल्लेख नाटक के संदर्भ में ही आया है। भरत ने भी रस का विवेचन उसे प्रमुख तत्व मानकर नहीं किया है। केवल नाटकीय अभिव्यक्ति में उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही रस का विवेचन किया है। चतुर्विध अभिनय के माध्यम से प्रेक्षक के मन में रसनिष्पत्ति करना ही नाट्य का उद्देश्य है। रस के बिना कुछ भी प्रवृत्त नहीं होता ।[4]

रसचर्चा का प्राचीनतम प्रमुख आधार भरत का "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" यह सूत्र ही रहा है तथा इसमें आये हुए "संयोगात्" और "निष्पत्तिः" शब्दों के भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं जिनमें आचार्य लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त प्रमुख रहे हैं। इनके मत को क्रम से उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद कहा गया है। इनके मत का विचार करने का यह स्थान नहीं है। काव्यप्रकाश तथा तत्पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थों में इसकी चर्चा पर्याप्त रूप में की गयी है। इनकी

---

१. दे. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं तथा। का. लं. भा. ३-६ ।

२. युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च विविधैः पृथक् । का. लं. भा. १-२१ ।

३. दे. दीप्तरसत्वं कान्तिः । का. लं. सू. ३-२-१५ ।

४. दे. It appears that in ancient times ordinarily poems and dramas were looked upon as separate compartments. Writers on Poetics did not first include a treatment of Rasas in their works. Rudrat is the first writer to treat of Rasas in a work called KAVYANLANKAR. The Shishupal Vadh 14.50 (Composed about a hundred years before Rudrat) speaks of Rasa in connection with dramas. Even in Bharata's NATYASHASTRA, Rasa is dealt with therein because of its relation to dramatic representation. The business of drama was to evolve Rasa in the spectator by means of four kinds of ABHINAYAS. The NATYASHASTRA says that without Rasa nothing can be done in Drama (नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते । ना. शा. Vol. I, P. 274) H. S. P. Page 341-42.

संख्या के विषय में भी अनेक मतमतान्तर रहे हैं। कोई आठ ही रस मानते हैं, कोई इसके साथ शान्तरस को जोड़ कर उनकी संख्या ९ तक बढ़ा देते हैं। आचार्य मम्मट के समय तक रस का व्यङ्ग्यत्व, उसकी ९ संख्या, काव्य में उसका महत्व का स्थान, रस का आधार अनुकार्य (पात्र), अनुकर्ता (नट) अथवा सहृदय सामाजिक, उसका स्वरूप, उसका ग्राहक ज्ञान सविकल्पक अथवा निर्विकल्प, उसकी अलौकिकता, कार्यता, कारणता, ज्ञाप्यता, रसान्तर्गत विरोधिता तथा उसका परिहार, उनके विभाग आदि का स्वरूप, आदि बातें स्पष्ट हो चुकी थीं। इसी समय रसव्यवस्था का विरोध करने वाले भी आचार्य थे। किन्तु ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य तथा आ. अभिनवगुप्त ने अपने प्रौढ़ तथा तर्कसंगत विचारों से उनका भी समाधान कर दिया था। तथापि हमें इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि "रसचर्चा" का विषय आचार्य मम्मट के समय तक समाप्त नहीं हो चुका था। उसे आगे भी अनेक आचार्यों ने उठाया है, तथा उसमें विविध मतों का समावेश भी किया है। इसकी संक्षिप्त चर्चा आगे यथासमय की जावेगी।

आचार्य मम्मट ने रस के विषय में कुछ विशेष उद्भावनाएँ की हैं वे इस प्रकार हैं:—

(१) उन्होंने "रस" काव्य में प्रमुख होता है यह स्पष्ट रूप से कहा है। (ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। का. प्र. ६६ का.) तथा काव्यपुरुष के रूपक का अस्पष्ट रूप से[१] स्वीकार किया है जिससे रस का स्थान तथा महत्व स्पष्ट ज्ञात होता है। इस काव्यपुरुष की कल्पना पूर्व में राजशेखर ने काव्यमीमांसा के ३रे अध्याय में दी है। (दे. पृ. ९९-१००)

(२) विविध प्रकार के उदाहरण देकर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के[२] अनेक प्रकार के भेद स्पष्ट रूप से हृदयङ्गम करवाये हैं। इस भेद-प्रदर्शन में आचार्य मम्मट की सूक्ष्मदृष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

(३) शृङ्गारादि रसों के भेदोपभेद बतलाये हैं।[३]

(४) शान्तरस का नवम रस के रूप में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[४] शान्त तथा प्रेयान इन दो अन्य (८ रसों के अतिरिक्त) रसों का स्वीकार

---

१. दे. शौर्यादय इवात्मनः। का. प्र. झ. पृ. ४६२।

२. दे. पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः। का. प्र. झ. पृ. १६८।

३. का. प्र. झ. पृ. १००-१०६।

४. का. प्र. झ. पृ. ११७। निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

आ. रुद्रट ने भी किया है।[१] शान्तरस का स्थायिभाव तत्वज्ञानजन्यविगतेच्छत्व (निर्वेद) ही आ. रुद्रट ने माना है तथा इसके विभावादि भी दिये हैं।[२] केवल उदाहरण नहीं दिया है। काव्यप्रकाशकार ने निश्चित रूप से शान्त का रसरूप में स्वीकार कर उसका स्थायिभाव भी निर्वेद कोही माना है। उदाहरण दिया है। तथा "अरित" कह कर उसका पूर्वास्तित्व भी मान्य किया है। वस्तुतः निर्वेद के स्थान पर "शम" को स्थायिभाव मानना ठीक होगा। निर्वेद तो सांसारिक आपत्तिय के कारण भी उत्पन्न होता है जो संचारिभाव होने योग्य है। तत्वज्ञानजन्य निर्वेद "शम" ही है। उदाहरण से भी ("अहो वा हारे वा. इ.") यह "शम" ही प्रतीत होता है। प्रश्न है शान्त रस का प्रयोग नाट्य में होता है अथवा ? नहीं किन्तु आचार्य मम्मट इस विषय पर मौन हैं। नाट्यचर्चा करना उनका उद्देश्य भी नहीं है। "प्रेयान्" रस का परिपोष न रुद्रट ने किया है और न आगे भी किसी अन्य साहित्यशास्त्री ने। अतः वह केवल "भाव" रूप ही हो सकता है।

(५) रस को मुख्य मानकर भी भावशान्त्यादि को कभी-कभी प्राधान्य दिया जाता है, किन्तु वह भी "राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्य" के समान ही है। क्योंकि रस तो प्रधान ही रहता हैं। यह तथ्य मम्मट ने स्पष्ट कर दिया है।[३]

(६) रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि, तथा समाहित के समान ही भावोदय, भावसन्धि, भावशबलत्वादि को भी मम्मट ने अलङ्कार का स्थान दिया है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट जैसे विद्वान इन्हें अलङ्कार मानने को तैयार नहीं थे। किन्तु "रसवत्" आदि को अलङ्कार मानने में जो युक्तियाँ हैं उन्हें भावोदय आदि में भी समानरूप से उपस्थापित किया जा सकता है। अतः इन्हें भी अलङ्कार मानना तर्कसंगत होगा।[४]

(७) इन रसवदादि अलङ्कारों को स्वतन्त्र न मानकर उनका अन्तर्भाव आचार्य मम्मट "अपराङ्ग" नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद में ही करते हैं।

---

१. दे. शृङ्गारवीरकरुणा वीभत्सभयानका रसा हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानितिमन्तव्या रसाः सर्वे॥ काव्यालङ्कार १२।३।

२. दे. का. लं. रु. १५।१५।

३. दे. मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन। का. प्र. झ. पृ. १२७।

४. दे. एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि – ब्रूयादित्येवमुक्तम्। वही, वृत्ति पृ. २०१।

अर्थात् रस, भाव, भावोदय आदि की स्थिति प्रधान होने पर वे अलङ्कार्य या ध्वनि होते हैं और "अपराङ्ग" होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य होते हैं।[1]

(८) "अयं स रसनोत्कर्षी०" आदि स्थलों पर "करुण" को लेकर "ध्वनित्व" तथा "शृङ्गार" को लेकर "गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व" ये दो धर्म एक ही काव्य में आने पर उस काव्य को क्या माना जाय इस प्रश्न की व्यवस्था भी आचार्य मम्मट ने "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय का अवलम्ब लेकर लगा दी है।[2]

(९) ध्वनिकार के दिशा प्रदर्शन में ही, किन्तु अधिक व्यवस्थित रूप से, रसों के दोषों का भी विवेचन आचार्य मम्मट ने किया है।[3] तथा उनके परिहार आदि का मार्ग भी दिखलाया है।[4]

(च) ध्वनितत्व का विवेचन :

रसतत्व के विवेचन के साथ ही ध्यनितत्व का विचार भी कर लेना सङ्गत होगा। ये दोनों तत्व आपस में सम्बद्ध हैं। साहित्यशास्त्र के प्राङ्गण में इस ध्यनितत्व के प्रवेश से एक क्रान्तिकारक व्यवस्था का निर्माण हुआ है। अनेक साहित्यतत्वों का मूल्यमापन तथा उनके स्वरूप का यथार्थ निर्धारण करने की प्रवृत्ति का साहित्यशास्त्र के पण्डितों में आरम्भ हो गया है और साहित्यशास्त्र के प्रान्त में एक "नयी व्यवस्था" का निर्माण हुआ है। ध्यनिकार ने कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥[5]

अर्थात् वाच्यार्थ से अन्य एक प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ भी है जो महाकवियों की वाणी में, युवतियों के शरीर पर "लावण्य" के समान झलकता है। इस तत्व के प्रवेश के कारण –

(१) काव्य के भेद प्रभेद "व्यङ्ग्य" को दृष्टिगत करके होने लगे।

(२) "व्यङ्ग्य" भी एक "अर्थ" होने से शब्द की अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या, व्यञ्जना वृत्तियों की चर्चा इस प्रान्त में भी होने लगी।

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. ८५।

२. दे. "यद्यपि स नास्ति – क्वचिद् केनचिद व्यवहारः। का. प्र. झ. पृ. २०२।

३. दे. का. प्र. झ. पृ. ४३३-४५।

४. दे. का. प्र. झ. सू. ८३ से ८६।

५. दे. ध्वन्यालोक १-४।

(३) व्यङ्ग्यार्थ का, विस्तार के साथ, अध्ययन होने लगा और उसकी अनेक विधाओं का पता लगाया गया।

(४) रसतत्व को उसका योग्यतम स्थान दिया गया। भरत के समय तथा उसके बाद भी रसचर्चा केवल नाट्य के लिए ही की जाती थी। अब इसका स्थान अन्य काव्यों में भी उतना ही महत्व का होता हैं, यह बात निश्चित रूप से मानी जाने लगी।

(५) व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए शब्द में एक "व्यञ्जना" वृत्ति भी होती है। इस बात का भी पता लगाया गया।

(६) रसतत्व तो हमेशा व्यङ्ग्य ही रहता है किन्तु साथ-साथ वस्तु तथा अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होते है, इस बात का निर्णय किया गया।

(७) गुण, रीति, वृत्ति, अलङ्कार, आदि का स्वरूपनिश्चय करके साहित्य में उन्हें योग्य स्थान दिया गया।

इस प्रकार "ध्वनितत्व" के प्रवेश के कारण साहित्यशास्त्र में एक "व्यवस्था" का आरम्भ हुआ जिसकी नीव आ. आनन्दवर्धन ने रखी। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस व्यवस्था को आकार प्रदान किया और आ. मम्मट ने, प्रतिहारेन्दुराज, मुकुलभट्ट, महिमभट्ट, जैसे प्रमुख ध्वनिविरोधियों के मत का, तर्कसंगत रूप से खण्डन करके ध्वनि का महत्व पुनरपि प्रतिष्ठित किया तथा इस व्यवस्था का सुचारू रूप से सम्पादन किया।

आचार्य मम्मट इस व्यवस्था का प्रमुख रूप से निर्माण करने वाले प्रथम आचार्य रहे हैं। ध्वनिकार ने दिशा प्रदान की और अभिनवगुप्त ने उस दिशा का बहुत कुछ स्पष्टीकरण किया किन्तु इस व्यवस्था हेतु स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण कर उसको ठीक तरह से संपादन करने वाले आचार्य मम्मट ही प्रथम हैं। डॉ. सत्यव्रतसिंह अपने काव्यप्रकाश की भूमिका में पृ. ७० पर इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं— "मम्मट से बढ़कर ध्वनिवाद का प्रचारक कोई नहीं हुआ है, और उनका काव्यप्रकाश ही ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र का सर्वप्रथम और साथ ही साथ सबसे श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है।" डॉ. गयाप्रसाद उपाध्याय अपनी पुस्तक "ध्वनिसिद्धान्त और व्यञ्जनावृत्तिविवेचन" के पृ. ४७ पर लिखते हैं। "आचार्य मम्मट ने काव्य के क्षेत्र में विस्मयकारी समन्वय की चेष्टा की। स्वग्रन्थ का. प्र. में उन्होंने अपने समय तक के काव्यसिद्धान्तों की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को ध्वनि के आलोक में व्यवस्थित और समन्वित रूप प्रदान किया है।"

उन्होंने :—

(१) आचार्य आनन्दवर्धन का आशय स्पष्ट कर दिया जिसके लिए उन्हें अनेक स्थानों पर विस्तार से विचार करना पड़ा।

(२) व्यञ्जनावृत्ति की स्वतन्त्रता को सिद्ध करने के लिए आचार्य मम्मट को व्याकरण, मीमांसा, न्याय, वेदान्त आदि के अनुसार "शब्दार्थ" विवेचन करना पड़ा, शब्द, वाच्यार्थ, संकेत, तात्पर्य अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, अखण्डार्थवाद, ज्ञातता, जातिव्यक्तिशक्तिवाद, लक्षणा, अपोहवाद आदि अनेक शास्त्रीय विषयों से उन्हें जूझना पड़ा। समय-समय पर मीमांसक, नैयायिक आदि को भी उनका शास्त्रीय आशय समझाना पड़ा। अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या-वृत्तियों की मर्यादा का स्पष्ट निर्देशन करना पड़ा।

शब्द तथा अर्थ में विद्यमान व्यञ्जनाशक्ति की सिद्धि करने के लिए आचार्य मम्मट को शब्द की पूर्व प्रसिद्ध शक्तियों का (अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या का,) विवरण देना पड़ा जिसे उन्होंने वैयाकरण तथा उभयविध मीमांसकों (भट्ट तथा प्रभाकरों) के अनुसार विवेचित किया है तथा किसी एक पक्ष का समर्थन न करते हुए व्यञ्जनासिद्धि की ओर वे बढ़े हैं। किन्तु इस विवरण के समय उन्होंने व्यक्ति का तथा उसकी उपाधियों (जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य) का विवेचन, व्याकरण के अनुसार, बड़े ही व्यवस्थित रूप से किया है। मीमांसकों के अनुसार जातिशक्तिवाद के समर्थन में "जाति" के, व्यक्ति, गुण, क्रिया और द्रव्य इन समस्त धर्मों में जातित्व की सिद्धि भी बड़े ही युक्तियुक्त ढंग से की है। ये दो मत ही अधिक प्रभावी होने से अन्य मतों का (अपोहवाद और जातिविशिष्टव्यक्ति में संकेत मानने वाले बौद्ध तथा नैयायिक मतों का) केवल निर्देशमात्र करके वे आगे बढ़े हैं।[1]

लक्षणा के निरूपण के लिए वैयाकरण से किसी प्रकार की सहायता आचार्य मम्मट नहीं ले सके। क्योंकि वे लक्षणा मानते ही नहीं। परमलघुमञ्जूषाकार नागेशभट्ट शब्द की केवल "प्रसिद्धा" और "अप्रसिद्धा" ऐसी दो शक्तियां मानते है। प्रसिद्धा शक्ति का ज्ञान आमन्दबुद्धिव्यक्तियों को रहता है और अप्रसिद्धा शक्ति केवल सहृदय को प्रतीत होती है।[2] अर्थात् प्रसिद्धा शक्ति ही

---

१. दे. तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्तः इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्। का. प्र. झ. पृ. ३८।

२. दे. शक्तिर्द्विविधा प्रसिद्धा अप्रसिद्धा च। आमनन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम्। सहृदयमात्रवेद्यात्वमप्रसिद्धात्वम्। प. ल. मं. पृ. १९।

"अभिधा" हैं। अप्रसिद्धा को व्यञ्जना माना जा सकता है।[1] किन्तु लक्षणा नहीं। अतः लक्षणा तथा तात्पर्या वृत्तियों का निरूपण आ. मम्मट ने मीमांसको के अनुसार किया है। लक्षणा के लक्षण में ही उन्होंने उसके हेतु, प्रयोजन आदि का स्वरूप बतला दिया है। उसके भेदों का विवेचन करने के पश्चात् प्रयोजनवती लक्षणा किस प्रकार व्यङ्ग्यार्थवती होती है इसका, तथा उस प्रयोजन के-व्यङ्ग्यार्थ के-ज्ञान के लिए लक्षणावृत्ति किस प्रकार उपयोगी नहीं होती, उसके लिए व्यञ्जनाव्यापार का ही स्वीकार करना पड़ता है, यह बात शास्त्रीय दृष्टिकोण से बतलाने का सफल प्रयास किया है। व्यङ्ग्यार्थ रस आदि का विवेचन करके आचार्य मम्मट ने जिस प्रकार अपनी "रसिकता" का प्रदर्शन किया है उसी प्रकार शब्दशक्तियों का विवेचन करके उन्होंने अपने पाण्डित्य का भी प्रदर्शन किया है। आचार्य मम्मट ने अपने न्यायशास्त्रीय पाण्डित्य का प्रदर्शन, व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट के, व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव करने वाले मत के खण्डन में, बहुत ही प्रभावी ढँग से किया है।[2] इस प्रकार का. प्र. का द्वितीय तथा पञ्चम उल्लास आ. मम्मट के पांडित्य का आचूड़ान्त निदर्शक है शब्दशक्तियों के विषय में, इतने विस्तार से[3] तथा प्रौढ़ता से किया गया विचार, साहित्यशास्त्र पर लिखित किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ था। आचार्य मम्मट ही इसके प्रथम विचारक हैं। आचार्य मम्मट के समय में ध्वनि तथा व्यञ्जना के विरोधी अनेक दार्शनिक थे। इन मीमांसक, वैयाकरण, नैयायिक आदि ने शब्दार्थ विचार की व्यवस्था का सारा भार अपने पर ही ले रखा था। तथा उनके विचार में व्यञ्जनावृत्ति को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया जा सकता था। अतः आचार्य मम्मट को, इस दिशा में प्रयत्न करने वाले प्रथम विचारक होने के कारण, अथक परिश्रम करना पड़ा हैं। इस कार्य में उनकी प्रखर तथा सर्वस्पर्शी बुद्धिमत्ता का स्पष्ट दर्शन होता है। ऐसा लगता है कि वे अवश्य ही "वाग्देवतावतार" हैं। उनके मीमांसा न्याय तथा व्याकरण के प्रगाढ़ पाण्डित्य का भी परिचय हमें इसी चर्चा में मिलता है।[4]

वाच्यवाचकभाव से व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का भेद दिखलाने के लिए आचार्य मम्मट ने बहुत ही परिश्रम किये हैं। इसके लिए काव्यप्रकाश के पाँचवें उल्लास का उत्तरार्ध देखा जा सकता है। बोद्धृभेद, स्वरूपभेद, संख्याभेद, निमित्तभेद,

---

१. दे. भा. सा. शा. ग. व्यं. दे. पृ. १३०-३१।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. २५२-२५६।
३. दे. का. प्र. २ य उल्लास।
३. दे. का. प्र. २ य तथा ५ म उल्लास।

कार्यभेद, प्रतीतिभेद, आश्रयभेद, विषयभेद आदि अनेक भेदों का विवेचन योग्य उदाहरणों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है । आचार्य मम्मट के इस परिश्रम के कारण आगे विश्वनाथ आदि को इस विषय में अधिक परिश्रम नहीं करने पड़ा हैं ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिभेद अनेक होते हैं ऐसा कहा है ।[1] किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने उनके भेद बतलाने का प्रयत्न "लोचन" में किया है । इसके अनुसार शुद्धध्वनि के ३५ भेद लोचनकार ने किये हैं । किन्तु आ. मम्मट शुद्ध ध्वनि ५१ प्रकार का मानते हैं ।[2] अर्थात् दोनों के मत में शुद्धध्वनि के भेदों में १६ भेदों का अन्तर है । इसका कारण यह है । आचार्य मम्मट ने अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के प्रबन्धगत १२ भेद भी माने हैं । शब्दशक्त्युत्थ के वस्तु, अलङ्कार ऐसे भेद मानकर उनमें से प्रत्येक के पदगत और वाक्यगत ऐसे चार भेद माने हैं । अतः लोचन की अपेक्षा दो भद और बढ़ गये हैं । लोचन ने केवल दो ही भेद माने हैं, चार नहीं । इसी प्रकार लोचनकार उभयशक्त्युत्थ कोई भेद मानते नहीं । आचार्य मम्मट इसका एक प्रकार मानते हैं । अतः आ. मम्मट ने लोचनकार की अपेक्षा शुद्धध्वनि के १२+२+१=१५ भेद तो अधिक मान ही लिये हैं । रहा सोलहवाँ भेद । आचार्य मम्मट ने रसादिध्वनि के पद, वाक्य, वर्ण, संघटना, प्रबन्ध के साथ-साथ "पदैकदेश" यह छठा भेद भी मान लिया है । लोचनकार केवल पाँच ही भेद मानते हैं । इसी प्रकार इन ध्वनिभेदों की संसृष्टि तथा संकर, के साथ मिलाकर होने वाली संख्या भी लोचन के अनुसार ७४२० है । किन्तु आचार्य मम्मट के अनुसार संसृष्टिसंकर के १०४०४ तथा शुद्ध भेद ५१ मिलाकर कुल ध्वनिभेद १०४५५ होते हैं । सा. दर्पणकार ने ध्वनिभेद ५३५५ माने हैं । इस प्रकार विभिन्न आचार्यों के अनुसार संख्याभेद होने पर भी लोचनकार की अपेक्षा आ. मम्मट की संकलनपद्धति निर्दोष है । इस विषय में हम अधिक चर्चा करना अयोग्य समझते हैं । जिन्हें यह समझने में रस हो वे ध्वन्यालोक (का. ३।४४) की हिन्दी टीका (आ. विश्वेश्वर) देखें । हम केवल आ. मम्मट का इस दिशा में क्या योगदान रहा है यह दिखलाना चाहते हैं । गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी अनेक भेद होते हैं ।[3] उनके भेदप्रभेद आ. वामनशास्त्री झलकीकरजी ने ३४०६२३९०० गिनाये हैं । जिज्ञासु मूलग्रन्थ में उन्हें देखें ।

---

१. दे. ....पुनरप्युद्योतते बहुधा । ३।४४। ध्व. लो.

२. दे. भेदास्तदेकपञ्चाशत् । का. प्र. झ. सूत्र ६२ ।

३. दे. अन्योऽन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्याऽतिभूयसी । का. प्र. झ. सू. ६९ ।

आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के जो आठ भेद किये हैं उनके संकेत "ध्वन्यालोक" तथा "लोचन" में ढूंढे जा सकते हैं। तथापि उनका स्पष्ट रूप से उल्लेख, निरूपण तथा उदाहरणों के द्वारा उनका प्रतिपादन आ. मम्मट ने ही किया है। आचार्य मम्मट का प्रयास केवल ध्वनितत्व का प्रतिपादन करने का नहीं था। अपितु वे ध्वनिशास्त्र का निर्माण कर रहे थे। इसलिए उन्होंने "रस" को सर्वथा अलङ्कार्य या मुख्य माना है। तथा रसवत् प्रेयस् आदि को आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने यद्यपि अलङ्कार माना है तथापि उसका प्रत्याख्यान करके आचार्य मम्मट ने उनका "अपराङ्ग" संज्ञक गुणीभूतव्यङ्ग्य में अन्तर्भाव कर दिया है। आ. मम्मट को यह मान्य नही था कि रसवत् आदि को अलङ्कार मान कर उन्हें उपमादि के समान "वाच्यकोटि" में प्रविष्ट कर दिया जाय। उन्हें डर था कि इससे "वक्रोक्तिसिद्धान्त" के समान ध्वनिसिद्धान्त में भी संकीर्णता का दोष आ जायगा।[१]

ध्वनिकार ने उद्योत १ कारिका १३ वीं में ध्वनि के लक्षण में—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

में व्यङ्क्तः पद का प्रयोग करते हुए तथा (ध्वनिशब्द का अर्थवन्यते व्यङ्ग्योऽर्थः अनया इति ध्वनिः" इस प्रकार") करणव्युत्पत्ति के द्वारा भी "व्यञ्जनावृत्ति" का संसूचन किया है, किन्तु स्पष्ट रूप से नहीं। आ. मम्मट ने इस "वृत्ति" की आवश्यकता को समझ कर उसकी पृथक् सिद्धि के लिए प्रयत्न किया। इस प्रकरण में उन्हें अन्य शक्तियों का भी विवरण करना पड़ा है। इसका उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं।[२]

(छ) रीति तथा गुण :

इस सिद्धांत को गुण सम्प्रदाय भी कहा जाता है[३] आचार्य वामन रीति-सिद्धान्त के प्रतिपादयिता हैं। इनके अनुसार "रीति" काव्य की आत्मा है। उसका लक्षण है "विशिष्टा पदरचना" और वह 'विशेष' है "गुण"। अर्थात् गुणों की आधारभूत विशेष प्रकार की पदरचना काव्य का आत्मा है। ये गुण शब्द के तथा अर्थ के १०-१० हैं जिनके नाम हैं ओजस्, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थ-

१. दे. ध्व. सि. व्यं. वृ. पृ.-५१।
२. दे. पृ. १२७।
३. दे. भा. सा. शा. उपा. पृ. २०

व्यक्ति, और कान्ति। दोनों प्रकार के गुणों के नाम समान हैं केवल स्वरूप अलग अलग हैं। भरत तथा दण्डी ने भी इन गुणों का स्वीकार किया है। दण्डी इनके शब्दगतत्व तथा अर्थगतत्व के प्रति उदासीन हैं। इन गुणों से युक्त रचना को दण्डी "मार्ग" कहते हैं। ये मार्ग अनेक प्रकार के हैं। किन्तु दण्डी केवल वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों का ही विवेचन करते हैं। इस प्रकार की रचना, विदर्भ, गौड़ आदि देशों में प्रचलित होने से इनके ये नाम पड़े हैं। "वैदर्भ" मार्ग के १० गुण प्राणसमान हैं तथा उनका विपर्यय (अर्थव्यक्ति, उदारता, और समाधि को छोड़कर) गौड़मार्ग में दिखायी देता है।[१] आचार्य वामन भी रीतियों की तीन संख्या मान कर उनके नाम वैदर्भी गौड़ी और पाञ्चाली देते हैं। वैदर्भी रीति में समस्त (१०) गुणों का अस्तित्व मानते हैं। गौड़ी में विशेषतया ओजस् और कान्ति का अस्तित्व और पाञ्चाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य का समावेश रहता है।[२] भरत, दण्डी और वामन के द्वारा प्रतिपादित इन गुणों के स्वरूप में कहीं-कहीं विभिन्नता और कहीं-कहीं साम्य है। उदाहरण के रूप में "ओजस्" और "समाधि" इन गुणों को लिया जा सकता है। विशेष जिज्ञासु इस विषय में भरत ना. शा. १६-९९. दण्डी अ. १ तथा काव्यालङ्कारसूत्र अ. ३ आदि देखें। यद्यपि वामन ने काव्य के आत्मभूत रसतत्व का उल्लेख नहीं किया है तथापि गुणों का स्वीकार करके वे रसतत्व तक पहुँच गये हैं। कान्तिगुण की व्याख्या में ("दीप्तरसत्वं कान्तिः") तो इस की आवश्यकता साक्षात् ही कही है। वामन गुण और अलङ्कार का विस्पष्ट भेद नही करते हैं। केवल वे कहते हैं—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः॥[३]

राजशेखर तथा भोज रीतियों की संख्या ३ से अधिक देते हैं।

आचार्य मम्मट ने गुण और अलङ्कार का विभिन्न स्वरूप निश्चित कर दिया है। अङ्गीरस का उत्कर्ष करनेवाले, स्थिर धर्म, गुण होते हैं। जैसे आत्मा के शौर्य आदि। और अङ्गों के (शब्द, अर्थ के) द्वारा जो धर्म कभी-कभी रस की शोभा बढ़ाते हैं ऐसे अस्थिर धर्मों को अलङ्कार कहते हैं। जैसे हार आदि।[१] भट्टोद्भट ने जो गुण और अलङ्कारों की एकता मानकर "उनका भेद केवल

१. दे. का. द. १-४२।
२. दे. का. सू. वा. १-२-११, १२, १३।
३. दे. का. सू. वा. ३-१-१, २।
१. दे. का. प्र. झ. सू. ८७-८८।

गड्डलिका प्रवाह है" ऐसा कहा है उसका भी मम्मट ने खण्डन किया है, तथा गुणालङ्कारों का भेद स्पष्ट किया है।[1] रीतियों का उन्होंने, वृत्त्यनुप्रास के माधुर्यव्यञ्जकवर्णवाली उपनागरिका वृत्ति में वैदर्भी का, ओजः प्रकाशकवर्णोंवाली परुषावृत्ति में गौड़ी का और प्रसादगुण के व्यञ्जकवर्णोंवाली कोमला में पाञ्चाळी का अन्तर्भाव कर दिया है ।[2] अर्थात् ये रीतियाँ विशिष्ट प्रकार की, रसाभिव्यञ्जक पदरचना-अनुप्रास-ही है। अनुप्रास का अर्थ भी "रसानुकूलवर्णों की रचना" ही होता है। गुण भी शब्द तथा अर्थगत न होकर केवल शब्दगुण ही है। अर्थगुण अलग नहीं है।[3] और शब्द गुण भी केवल माधुर्य, ओजस् और प्रसाद तीन ही हैं, दस नहीं। क्योंकि इन दस गुणों में से कुछ इन तीन गुणों में अन्तर्भूत होते हैं, कुछ दोषाभाव माने गये हैं और कुछ तो दोष ही हैं।[4] आ. भामह भी केवल तीन गुण माधुर्य ओजस् और प्रसाद ही मानते हैं, यह बात ध्यान में रखनी चाहिये।[5] माधुर्यादिगुणों का स्वरूप साक्षात् रसों से सम्बद्ध है। रस के आस्वादन में इनका महत्व का स्थान है। ये साक्षात् रसधर्म हैं। विशेष प्रकार की रचना, शब्द, अर्थ आदि द्वारा ये गुण अभिव्यक्त होते हैं। इनकी शब्दार्थ में अवस्थिति केवळ लाक्षणिक है।[6] ये केवल रसधर्म होने से जहाँ पर रस नहीं है वहाँ पर केवल विशिष्टप्रकार की रचता करने से उन गुणों का भ्रम होता है। जैसे किसी का केवल आकार देखकर ही 'यह शूर है' ऐसा भ्रम होता है। रसप्रत्यय के अभाव में प्रत्येक सहृदय का इस प्रकार के भ्रम का निरास होता है। अर्थात् माधुर्यादि रसधर्म होकर वे समुचित वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं।[7] इस प्रकार का स्पष्ट प्रतिपादन आचार्य मम्मट ने किया है। आचार्य द्वारा किये गये विवरण से गुण, रीति, अलङ्कार, आदि का पृथक्तया तथा विस्पष्टरूप से ज्ञान होता है। कैशिकी,

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. ४७० ।

२. दे. का. प्र. झ. पृ. ४९७-९८ ।

३. दे. तेन नार्थगुणा वाच्याः" का. प्र. झ. पृ. ४८३ ।

४. दे. का. प्र. झ. पृ. ४७८ ।

५. दे. "माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।" तथा "केचिदोजोऽभिधित्सन्तः". इ. का. लं. २-१-२ ।

६. दे. गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता । का. प्र. झ. पृ. ४७७ ।

७. दे. का. प्र. झ. पृ. ४६४-५ ।

सात्त्वती, आरभटी आदि वृत्तियों का नाट्य से संबन्ध होने से[1] इनकी चर्चा आचार्य मम्मट ने नहीं की है।[2]

(ज) अलङ्कार :

साहित्यशास्त्र में "अलङ्कार" शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। साहित्यशास्त्र का नाम ही अल्ङकारशास्त्र रहा है। नाट्यशास्त्र में इसका प्रयोग "भूषण" संज्ञक लक्षण में आता है। इस भूषण में अलङ्कार और गुण दोनों का समावेश किया गया था।[3] वामन ने अलङ्कार का अर्थ सौन्दर्य किया है[4] और अलङ्कार शब्द के भी होते हैं ऐसा उन्होंने आगे कहा है। आ. दण्डी, भामह, उद्भट, रुद्रट आदि पण्डित भी अलङ्कार शब्द व्यापक अर्थ में लेते हैं। ये सब आचार्य रस की कल्पना से परिचित होने पर भी काव्य में उसका स्थान निश्चित करने में असमर्थ रहे हैं।[5] इन आचार्यों को काव्य में "अलङ्कार" तत्व अतिशय महत्व का लगा। अतः उन्होंने रसतत्व को भी रसवद् आदि अलङ्कार बना दिया। भामह तथा दण्डी ने गुण तथा अलङ्कार में किसी प्रकार का भेद नहीं किया है।[6] दण्डी ने तो गुणों को अलङ्कार ही माना है।[7] नाट्य सन्धियाँ आदि को भी दण्डी अलङ्कार ही मानते हैं।[8] रस, प्रतीयमान अर्थ आदि की कल्पना होने पर भी भामह दण्डी आदि साहित्यिकों पर अलङ्कार की कल्पना का बहुत प्रभाव था। भामह ने कहा कि "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।" (भा. लं. १-१३)। किन्तु इसका प्रभाव आचार्य मम्मट तक भी, कम मात्रा में क्यों न हो, अस्तित्व में था। उन्होंने भी काव्य के लक्षण में

---

१. दे. वृत्तयो नाट्यमातरः – अथवा नाट्यसंश्रयाः। ना. शा. २२-६४।

२. दे. इनके विशेष विवरण के लिए भा. सा. शा. उपा. रीति-विचार तथा वृत्तिविचार।

३. दे. अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम्।
भूषणैरिव चित्राभैर्यस्तद्भूषणमिति स्मृतम्॥ ना. शा. १७-६।

४. दे. का. सू. वा. १-१-२।

५. दे. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। का. द. १-५१।
"तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयतसा रसैर्युक्तम्। का. लं. रुद्रट १२-२।
रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि रसाश्रयम्। का. लं. भामह अ. ४ इ.।

६. दे. हि. सं. पो. का. पृ. ३५७।

७. दे. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। का. द. २-१।

८. दे. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥ का. द. २-३६७।

"अनलङ्कृती पुनः क्वापि" कहकर काव्य में निदान अस्फुटालङ्कार की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। तथैव "शब्दचित्र" और "वाच्यचित्र" नाम का एक काव्यप्रकार भी स्वीकृत किया है जिसमें केवल अलङ्कारों के बल पर काव्यत्व का निर्णय किया जाता है।[1]

आचार्य मम्मट ने इस प्रकार अलङ्कारों की आवश्यकता को स्वीकृत करते हुए उसका स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया है।

उपकुर्वन्ति ये सन्तमङ्गद्वरेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ (का. प्र. झ. पृ. ४६५)

इस लक्षण के द्वारा अलङ्कारों का स्वरूप गुण, रीति रस आदि से पृथक् होकर स्पष्टतया प्रतीत होता है। भरत ने जिन चार अलङ्कारों का ना. शा. अ. १७ पद्य ४३ में उल्लेख किया है उनमें उपमादि अर्थालङ्कार और यमक शब्दालङ्कार का निर्देश है। किन्तु भरत ने उनको इस प्रकार दो भागों में विभक्त नहीं किया है। भामह ने, "शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः।" (का. लं. १-१५) । कह कर इसे स्पष्ट रूप से विभक्त कर दिया है । दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद में अर्थालङ्कारों का और तृतीय में यमक जैसे शब्दालङ्कारों का निरूपण करके यह भेद अर्थतः मान लिया है । आचार्य मम्मट को भी वह भेद संमत है। उन्होंने ९ वें उल्लास में शब्दालङ्कारों का और दसवें में अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। उद्भट ने श्लेष को अर्थालङ्कार मान कर उसके शब्दश्लेष और अर्थश्लेष ऐसे भेद करने पर मम्मट ने उसका जोरदार विरोध किया हैं।[2] तथा श्लेष का स्थाननिर्णय अन्य अलङ्कारों के साथ बाध्यबाधकभाव आदि भी युक्तियुक्त करके दिखाया है।[3] भोज ने अलङ्कारों का एक विभाग उभयालङ्कार (शब्दार्थालङ्कार) भी किया है, तथा उसमें उपमा, रूपक जैसे अलङ्कारों का अन्तर्भाव किया है।[4] किन्तु भोज की उभयालङ्कार में उपमा, रूपक आदि का अन्तर्भाव करने की व्यवस्था से, प्रायः अन्य साहित्यिक सहमत नहीं हुए हैं। आचार्य मम्मट ने उभयालङ्कार यह प्रकार मान्य करते हुए उसका उदाहरण "पुनरुक्तवदाभास" का दिया है।[5] किन्तु उसे शब्दालङ्कारों में ही रखा है।

१. दे. का. प्र. झ. पृ. २२।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. ५२७।
३. दे. का. प्र. झ ९ उल्लास।
४. दे. स. कं. भ. २-१।
५. दे. का. प्र. झ. पृ. ५३८।

शब्द, अर्थ तथा उभय अलङ्कारों की व्यवस्था अन्वयव्यतिरेक के द्वारा होती है।" यह सिद्धान्त तथा कुछ अलङ्कारों का वर्गीकरण का. प्र. के १० वें उल्लास के अन्त में पृ. ७६७-७६९ पर आया है।

अर्थालङ्कार के आधार :

आ. दण्डी ने स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो आधार माने हैं और श्लेष को वक्रोक्ति की शोभा देने वाला बतलाया है।[1]

आ. भामह वक्रोक्ति को ही समस्त अलङ्कारों का मूल मानते हैं।[2]

आ. वामन समस्त अलङ्कारों का मूल उपमा को मानते हैं तथा अन्य अलङ्कार (लगभग ३०) उसी का प्रपंच है।[3]

आ. रूद्रट ने वास्तव, औपम्म, अतिशय और श्लेष ये चार आधार बतलाये हैं।[4]

आ. मम्मट ने यद्यपि इस वर्गीकरण का स्पष्टतया उल्लेख नहीं किया है तथापि नवम तथा दशम उल्लास के आरम्भ में "शब्दालङ्कारानाह, अर्थालङ्कारा-नाह," इस प्रकार उल्लेख किया है तथा 'विशेष' अलङ्कार के विवेचन के समय वे कहते हैं 'सर्वत्र एवंविधे विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां बिना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।"[5]

तथा आगे— "सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति." इत्यादि कारिका प्रमाणत्वेन उद्धृत करते हैं। अर्थात् यहाँ पर आ. मम्मट को, अतिशयोक्ति शब्द से पूर्वोक्त अतिशयोक्ति अलङ्कार अभीष्ट नहीं है। अपितु "वक्रोक्ति" का समानार्थक यह शब्द है। तात्पर्य, अतिशयोक्ति—वक्रोक्ति—वैचित्र्य उत्पन्न करने वाली उक्ति-कुछ अलङ्कारों के मूल में रहती है, यह बात मम्मट को स्वीकृत है।

---

१. दे. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ का. द. २।३६३

२. दे. सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना॥ का. लं. २-८५।

३. दे. संप्रति अलङ्काराणां प्रस्तावाः तन्मूलंचोपमेति सैव विचार्यंते।
का. सू. वा. ४-२। प्रतिवस्तुप्रभृत्युपमाप्रपंचः। वही ४-३-१।

४. दे. का. ल. रू. अ. ७ का ९।

५. दे. का. प्र. झ. पृ. ७४३।

अलङ्कारों की संख्या भरत ने ४ मानी थीं, उद्‌भट, वामन, भामह, दण्डी आदि ने वह ३० से ४१ के मध्य में मानी है। आ. रुद्रट के अनुसार अलङ्कार ५७ हैं।[1] आ. मम्मट उसे ६१ तक ले गये हैं। आगे भी वह बढ़ती गई है। ध्वन्यालोक में तो कहा है— सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च।[2]

शब्दालङ्कार :

आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित अलङ्कार इस वर्ग में अन्तर्भूत किये हैं :

(१) वक्रोक्ति, २ प्रकार।
(२) अनुप्रास, ५ प्रकार।
(३) यमक, अनेक प्रकार।
(४) श्लेष, ८ प्रकार। तथा १ अभङ्ग श्लेष।
(५) चित्रालङ्कार, खड़गादि विविध प्रकार तथा—

(६) पुनरुक्तवदाभास। यह शब्दगत तथा शब्दार्थगत दो प्रकार का है। चित्रकाव्य में प्रहेलिकादि अनेक प्रकारों का अन्तर्भाव होता है। काव्य में सौशब्द्य (शाब्दिक सौंदर्य) लाने के लिए इनका स्वीकार किया गया था। किन्तु आगे चलकर प्रहेलिकादि के प्रयोग क्लिष्ट बन गये तथा सहृदय कवियों ने उनका तिरस्कार करना शुरू कर दिया। काव्यप्रकाशकार भी इसे "कष्टं काव्यमेतद्" कह कर इसका अधिक विस्तार नहीं करना चाहते हैं। तो फिर यह प्रश्न बना ही रहता है कि उन्होंने क्लिष्टता में समान "यमक" का इतना विस्तार क्यों किया? उस ओर भी उनको ध्यान नहीं देना चाहिये था। आगे विश्वनाथ ने इसका विस्तार नहीं किया है। आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती दण्डी, भामह, रुद्रट आदि आचार्यो ने यमक का विशद रूप से विवरण किया हुआ है। अतः मम्मट ने भी उसी दिशा को अपनाया-सा दिखायी देता है। इन यमक और चित्रकाव्यों का प्रश्रय भट्टि, भारवि, माघ आदि ने ही किया है। किन्तु श्लेष का आदर अधिक व्यापकरूप में किया गया है। श्रीहर्ष ने तो पाँच अर्थवाले श्लेष की रचना की है। इसका प्रयोग भी क्लिष्टता लानेवाला है। तथापि इसके प्रयोग में शब्दप्रयोगवैचित्र्य के साथ-साथ उक्तिवैचित्र्य भी है। वक्रोक्ति तथा अनुप्रास भी इसी प्रकार से वैचित्र्ययुक्त हैं। अनुप्रास तो रसप्रयोग में अनुकूल भी है। अतः इन शब्दालङ्कारों का विवेचन आचार्य मम्मट ने भी किया है।

---

१. दे. का. अ. रु. भू. पृ. ९।
२. दे. ध्व. पृ. ६।

अर्थालङ्कार :

सर्वप्रथम विवेचन उपमा का आया है। आचार्य मम्मट ने इसकी व्याख्या प्रकार आदि बतलाये हैं। प्राचीन आलङ्कारिकों ने इसके प्रकार अपने ढंग से किये हैं। मम्मट ने भी श्रौती, आर्थी, पूर्णा, लुप्ता, समासगा, तद्धितगा आदि अनेक भेद किये हैं। इनमें व्याकरण को आश्रय मानकर किये गये भेद आ. मम्मट के निजी कल्पनाप्रसूत-से प्रतीत होत हैं। इस प्रकार के भेदों का दिशाप्रदर्शन आचार्य भामह ने अवश्य किया है।[1] मम्मट ने पूर्णोपमा के छः और लुप्तोपमा के उन्नीस ऐसे पच्चीस भद उपमा के माने हैं। अनन्वय (दण्डी के अनुसार असाधारणोपमा), उपमेयोपमा (दण्डी के अनुसार अन्योन्योपमा), उत्प्रेक्षा, ससंदेह (दण्डी के अनुसार संशयोपमा) आदि अलङ्कार सर्वसाधारणरूप से विवेचित किये हैं। श्लिष्टपरम्परितरूपक को पुनरुक्तवदाभास जैसा ही उभयालङ्कार माना है। किन्तु भामहादि पूर्वाचार्यों ने इसे अर्थालङ्कार में माना होने से मम्मट ने भी इसे अर्थालङ्कार में सम्मिलित कर दिया है। मालारूपक, तथा रशनारूपक वैचित्र्यहीन होने से उन्हें अलङ्कार नहीं माना है। मालोपमा तथा रशनोपमा के विषय में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। दण्डी तथा रुद्रट के समासोक्ति और अन्योक्ति के स्वरूपनिदर्शन में संकीर्णता का प्रवेश हो गया था। आ. मम्मट ने न केवल समासोक्ति और अन्योक्ति (अप्रस्तुतप्रशंसा) का विषय विविक्तरूप से बतलाया है, अपितु अन्योक्ति के अनेक विशेष भी बतलाये हैं। हाँ, "समासोक्तिहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा" यह एक भेद अवश्य बतलाया है।[2] रुद्रट ने अतिशयमूलक अलङ्कारों में "पूर्व" नाम का अलङ्कार दिया है जिसका स्वरूप "कारण के पूर्व ही कार्य का होना" बतलाया है।[3] यह प्रकार आचार्य मम्मट ने, जो अतिशयोक्ति के लक्षण तथा प्रकार बतलाये हैं, उनमें यह पाँचवा प्रकार है अर्थात् अन्य चार प्रकार आचार्य मम्मट के स्वयं के हैं।[4] आचार्य भामह ने केवल इस विषय में मार्गदर्शन कर दिया था।[5] आचार्य दण्डी भी "किसी विशेष वस्तु की लोकसीमा को अतिक्रान्त करने वाली कल्पना" ऐसा अतिशयोक्ति का लक्षण करते हैं।[6] दृष्टान्त का स्वरूप मम्मट के पूर्व केवल उद्भट तथा रुद्रट ने

१. द. "वतिनापि क्रियासाम्यं तद्वदवाभिधीयते। का. ल. २।३३।
२. दे. का. प्र. पृ. ६१८-६२७।
३. दे. का. लं. रुद्रट ९-३।
४. दे. का. प्र. झ. पृ. ६२८।
५. दे. इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्। का. लं. भा. २-८४।
६. दे. का. द. २-२१४।

बतलाया है। आ. मम्मट ने दृष्टान्त शब्द का (दृष्टो अन्तः निश्चयः यत्र सः) अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है, तथा उसके साधर्म्य और वैधर्म्य ऐसे दो भेद भी बतलाये हैं। रुद्रट ने व्यतिरेक का लक्षण दोष और गुणों के आधार पर दिया है तथा उसके तीन भद किये हैं।[१] किन्तु आ. मम्मट ने "उपमान से उपमेय के आधिक्य" को व्यतिरेक कहा है तथा उसके २४ भेद बतलाये हैं।[२]

विशेषोक्ति अलङ्कार का विवेचन भामह आदि ने किया है किन्तु वह स्पष्ट नहीं है। आ. रुद्रट के काव्यालङ्कार में इसका लक्षण उपलब्ध नहीं हुआ। आ. मम्मट ने उसका सुबोध लक्षण देकर[३] उसके तीन भेद किये हैं। रुद्रट के मत में "विभावना" में ही विशेषोक्ति की कल्पना निहित होगी। क्योंकि ऐसे स्थान पर "संदेहसंकर" सदैव हुआ करता है।

विरोध अलङ्कार के १० भेद उदाहरणों के साथ दिये हैं। आ. रूद्रट ने केवल ५ भेद ही माने हैं। कदाचित जाति गुण क्रिया द्रव्य शब्दों के अर्थ रूद्रट तथा मम्मट ने अलग-अलग किये हैं। जिससे यह भेद दिखाई पड़ता है। अन्यथा "जातिद्रव्यविरोधो न संभवत्येव" का. अ. रू. ९ ३२। तथा उसकी टीका में नित्यमेव द्रव्याश्रितत्वाज्जातेर्न जातिद्रव्ययोर्विरोधः ऐसा नहीं कहा जाता। व्याजस्तुति का नाम रूद्रट ने "व्याजश्लेष" रखा है।[४] भामह ने "व्याजस्तुति" नाम रखकर भी "अप्रस्तुत की स्तुति और प्रस्तुत की निंदा करना, जिसका फल प्रस्तुत की स्तुति होता है," इस आशय का एकपक्षीय लक्षण किया है।[५] आ. मम्मट ने स्तुति से निन्दा और निन्दा से स्तुति ऐसे दोनों पक्ष माने हैं। विनोक्ति अलङ्कार आचार्य मम्मट की ही सूझ है। तत्पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया है। परिवृत्ति अलङ्कार में भामह के अनुसार "अर्थान्तिरन्यास" का भी होना आवश्यक है।[६] किन्तु आ. मम्मट ने यह आवश्यक नहीं माना है, और उसके तीन भेद भी किये हैं। आ. रूद्रट भेद नहीं करते हैं।

भाविक अलङ्कार को आचार्य भामह तथा दण्डी ने प्रबन्धगत माना है।[७] किन्तु आ. मम्मट इस मर्यादा का उल्लेख नहीं करते हैं। भाविक को भामह ने

---

१. दे. का. लं. रु. ७-८६।
२. दे. का. प्र. झ. ६४५।
३. दे. विशेषोक्तिरखण्डेपु कारणेपु फलावचः। का. प्र. झ. पृ. ६५८।
४. दे. का. लं. रू. १०-११
५. दे. का. लं. भा. ३-३१।
६. दे. का. लं. भा. ३-४१।
७. दे. का. लं. भा. ३-५३। तथा का. द. २-३६४, ६५, ६६।

"प्रबन्धविषयगुण" माना है अलङ्कार नहीं। काव्यलिङ्ग का उल्लेख केवल उद्भट ने किया है, तथा "हेतु" को भी इसी के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया है।[1] आ. मम्मट ने भी काव्यलिङ्ग की स्पष्ट व्याख्या तथा भेद करते हुए "हेतु" को काव्यलिङ्ग में ही अन्तर्भूत किया है।[2] तथा "भट्टोद्भट का" "हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः।" इस हेतुलक्षण का अनादर किया है।[3] "समुच्चय" अलङ्कार पूर्व में केवल रूद्रट ने माना है। उसीका अनुकरण आचार्य मम्मट ने किया है। किन्तु उसके किये द्वितीय भेद के लक्षण में (का. लं. रु. ७-२७ में) "व्यधिकरणे" तथा "एकस्मित् देशे" इन पदों का समावेश नहीं करना चाहिये यह भी उन्होंने स्पष्ट किया है।[4] आचार्य रुद्रट ने पर्यायअलङ्कार के दो प्रकार के लक्षण बतलाये हैं।[5] प्रथम प्रकार का आशय कुछ क्लिष्ट है, तथा उसका स्वीकार भी आचार्य मम्मट ने नहीं किया है। द्वितीय प्रकार का स्वीकार मम्मट ने किया है तथा उसके दो प्रकार उन्होंने किये हैं।[6] अनुमान अलङ्कार का भी केवल रुद्रट ने उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट ने इसके लक्षण तथा उदाहरण देकर रुद्रट के "पौर्वापर्य-विकल्प" का वैचित्र्याभाव के कारण निरसन किया है।[7] आचार्य रुद्रट ने परिकर का लक्षण तथा द्रव्यादि वस्तु के कारण उसके चार भेद किये हैं। किन्तु आचार्य मम्मट का अभिप्राय इसे एक विशेषण होने पर पुष्टार्थता मानने का है। यदि एक से अधिक विशेषण हों तो ही यह अलङ्कार होता है तथा उसका भेद भी एक ही है। व्याजोक्ति का लक्षण केवल वामन ने किया था जिसे अन्य "भावोक्ति" कहते थे।[8] आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण तथा उदाहरण स्पष्ट रूप से दिये हैं। परिसंख्या का भी रुद्रट तथा मम्मट ने विवरण किया है। कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर इनका निरूपण रुद्रट तथा मम्मट ने प्रायः समान रूप से किया है। सूक्ष्म का स्वरूप भी दण्डी से लेकर मम्मट तक प्रायः एक समान किया है। भामह ने इसे अलङ्कार नहीं माना है। सार, असङ्गति का वर्णन रुद्रट तथा मम्मट ने समान रूप से किया है। समाधि का तथा सम का अलङ्कार रूप में केवल मम्मट ने वर्णन

---

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १४२।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. ७०७।
३. दे. का. प्र. झ. पृ. ७०६
४. दे. का. प्र. झ. ६९१।
५. दे. का. लं. रु. ३७-४२-४४।
६. दे. का. प्र. झ. सं. १८०, १८१।
७. दे. का. प्र. झ. ६९८।
८. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १४१।

किया है। रुद्रट ने विषम के ६ भेद माने हैं किन्तु मम्मट ने केवल ४ भेद माने हैं। आचार्य रुद्रट ने अधिक के दो प्रकार किये हैं। किन्तु आचार्य मम्मट केवल आश्रयाश्रयिभाववाला प्रकार ही मानते हैं। तथा उसके दो भेद उन्होंने किये हैं। प्रत्यनीक अलङ्कार का निर्देश आचार्य रुद्रट ने किया है किन्तु उनकी कल्पना उतनी स्पष्ट नहीं है।[१] आचार्य मम्मट की कल्पना स्पष्ट तथा चमत्कारशालिनी है।[२] मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान, ये अलङ्कार रुद्रट-मम्मट—साधारण हैं। प्रतीप अलङ्कार रुद्रट ने भी दिया है तथापि आचार्य मम्मट ने उसमें कुछ और विशेषताओं का समावेश किया है। सामान्य अलङ्कार केवल मम्मट ने ही दिया है। विशेष के मम्मटोक्त तीनों प्रकार रुद्रट के समान ही हैं। तद्गुण के दो रूप आ. रुद्रट ने दिये हैं जिनमें प्रथम कुछ अस्पष्ट-सा है। दूसरा रूप मम्मटसाधारण है।[३] अतद्गुण की कल्पना केवल मम्मट ने की है। व्याधात अलङ्कार दोनों में उपलब्ध है, किन्तु दोनों ने उसके स्वरूप अलग-अलग दिये हैं। आ. रुद्रट का "अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य"[४] यह लक्षण विशेषोक्ति-जैसा प्रतीत होता है। आचार्य मम्मट की व्याघात की स्वतन्त्र कल्पना है। संसृष्टि अलङ्कार प्रायः समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों ने माना है। आचार्य दण्डी इसे संकीर्ण कहकर इसमें संकर और संसृष्टि का समावेश करते हैं।[५] संकर का लक्षण इसके चारों विभागों के साथ सर्वप्रथम उद्भट ने किया है।[६] आ. रुद्रट ने संकर के ही तिलतण्डुलवत् और दुग्धजलवत् ऐसे दो भेद माने हैं।[७] किन्तु आ. मम्मट ने इन दोनों का स्वरूप भिन्न रूप से स्पष्ट करते हुए संकर एवं संसृष्टि की व्यवस्था लगा दी है।[८] अन्त में अलङ्कारदोषों का वर्णन आता है। सप्तम उल्लास में उक्त दोषों में से ही कुछ दोष अलङ्कारों में आते हैं। इनका निर्णय "औचित्य" की आधारशिला पर ही किया गया है। यह विषय

---

१. दे. का. अ. रु. ८-३२।

२. दे. का. प्र. झ. पृ. ७२५।

३. दे. का. लं. रु. ९।२२-२४

४. दे. का. लं. रु. ९-५२।

५. दे. अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलङ्कारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः। का. द. २-३६०।

६. दे. हि. सं. पो. का. पृ. १४१।

७. दे. योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा। का. लं. रु. १०-२५।

८. दे. का. प्र. झ. पृ. ७५१-७६६।

भामह आदि के द्वारा भी निरूपित किया गया है। आ. रूद्रट ने भी ११ वें अध्याय में इनका निरूपण किया है।

इस प्रकार यह देखने में आता है कि आचार्य मम्मट ने अलङ्कारों का जो विवेचन किया है उसका आधार भामह, दण्डी आदि की अपेक्षा आ. रूद्रट ही अधिक मात्रा में है। नये अलङ्कार भी आ. मम्मट ने खोज निकाले हैं। कुछ पुराने अङ्कारों को अमान्य भी कर दिया जिनमें कुछ रूद्रट के द्वारा भी स्वीकृत हैं (जैसे भाव ७-३८ आदि)। अलङ्कारों की संख्या नियत नहीं हो सकती। मम्मट के ६१ के मुकाबले में कुवलयानन्दकार ने ११५ अलङ्कार सिद्ध किये हैं। अलङ्कारप्रतिपादन में आचार्य मम्मट की विशेषता उन अलङ्कारों के विवेचन के समय बतला दी गई है।

(ञ) दोषतत्व :

काव्य के प्रान्त में इस तत्व का भी बड़ा महत्व है। भामह कहते हैं :–
"सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।" का. लं. १-११।

आ. दण्डी कहते हैं :– "तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथं चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।" का. द. १-७

भरत ने नाट्यशास्त्र अ. १७ पद्य ८८ में अर्थहीन, एकार्थ, गूढ़ार्थ, अर्थान्तिर, विसन्धि, शब्दच्युत, विषम, भिन्नार्थ, अभिप्लुतार्थ और न्यायादपेत ये दस दोष कहे हैं। भामह और दण्डी ने भी इनसे मिलेजुले क्रम से ११ और १० दोष कहे हैं, किन्तु इनके पदगतत्व, अर्थगतत्व आदि तर्कसंगत विभाग इन्होंने नहीं किये हैं। वामन ने इस ओर ध्यान दिया है। दोषों का पद-वाक्य-अर्थगतत्व का विभाग आगे के प्रायः समस्त साहित्यिकों ने मान्य किया है। आ. मम्मट भी इनमें से एक हैं। ध्वनिकार द्वारा रस को काव्य में मुख्य स्थान देने पर, अनेक प्रकार के औचित्य की ओर ध्यान दिये जाने पर, तथा रसप्रतीति में विरोध निर्माण करने वाली कुछ बातों की ओर भी ध्यान जाने पर, रसदोष की कल्पना निर्माण हुई है।[१] अलङ्कारदोषों का निर्देश पूर्व में किया गया है।[२] दोष यद्यपि "सर्वथा" त्याग नहीं किये जा सकते तथापि उनका प्रमाण तो कम हो सकता है। आचार्य मम्मट ने एक बात बड़े ही महत्व की कही है और वह है दोष की सामान्य-

---

१. दे. का. प्र. झ. सातवाँ उल्लास, रसदोष प्रकरण।
२. दे. पृ. १४०।

व्याख्या। "मुख्यार्थहतिर्दोषः। रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः। उभयोपयोगिनः स्युःशब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।"[१] अर्थात् जो साक्षात् या परम्परा से रस को हानि पहुँचाते हैं वे दोष हैं। इस प्रकार रस को मुख्य मानकर दोषों का दूषकताबीज स्पष्ट करने वाले आ. मम्मट ही सर्वप्रथम आलङ्कारिक हैं। अन्यों के मत में ये सारे "काव्य के" दोष हैं। रस के द्वारा इन दोषों को दूषक मानने पर जहाँ पर ये दोष "रस" को हानि नहीं पहुँचाते हैं वहाँ पर ये दोष भी नहीं कहलाते। इस प्रकार दोषों की नित्यानित्यत्वव्यवस्था भी सुसंगत होती है।



---

१. का. प्र. झ. पृ. २६३-६४।

अध्याय – ६

भारतीय साहित्यशास्त्र और आचार्य मम्मट

आ. मम्मट पर पूर्वकालिक साहित्यशास्त्रियों का प्रभाव :

आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश ग्रन्थ का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि आचार्य मम्मट ने पूर्वकालिक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों का न केवल अध्ययन किया था किन्तु उसकी समीक्षा भी की थी। आ. मम्मट ने जिन-जिन साहित्यशास्त्रियों के साहित्य का अध्ययन किया था उनमें प्रमुख हैं — आ. भरतमुनि, आ. भामह, आ. महिमभट्ट, आ. रुद्रट, आ. वामन, आ. उद्भट, आ. आनन्दवर्धन, आ. अभिनवगुप्त, आ. शंकुक, आ. भट्टनायक तथा आ. भट्ट लोल्लट आदि। इन समस्त आचार्यों के विवेचन का प्रभाव आचार्य मम्मट पर अवश्यमेव पड़ा है। जहाँ कहीं उनका कथन आ. मम्मट को अनुमत नहीं था वहाँ पर उन्होंने अपनी विमति अथवा पक्षप्रदर्शन अवश्यमेव कर दिया है। इनमें से आ. भट्टलोल्लट (का. प्र. झ. पृ. ८७), आ. शङ्कुक, (पृ. ९०), आ. भट्टनायक (पृ. ९०) तथा आ. अभिनवगुप्त (पृ. ९५) इन आचार्यों के रसप्रतीतिविषयक सिद्धान्तों की जानकारी आचार्य मम्मट की दृष्टि में इतनी महत्व की थी कि उनका प्रदर्शन अपने ग्रन्थ में उन्होंने कर दिया है। इनमें से केवल अभिनवगुप्त के मत का प्रभाव उन पर पड़ा यह बात भी उन्होंने "इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्त-पादाः।" कह कर स्पष्ट कर दी है। वस्तुतः रस को व्यङ्ग्य अर्थात् ध्वनि मानने का सिद्धान्त आ. आनन्दवर्धन का है। आ. अभिनवगुप्त ने उसका विशद रूप से स्पष्टीकरण किया है। अतः इस विषय में आ. मम्मट पर दोनों आचार्यों का प्रभाव पड़ा है। ऐसा कहना ही ठीक होगा।

आचार्य भरतमुनि के प्रभाव के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि "काव्यप्रकाश" के जो दो अंश "कारिका" तथा "वृत्ति" हैं, उनमें से कारिका ग्रन्थ भरतमुनिप्रणीत होकर उसी का स्वीकार आ. मम्मट ने का. प्र. की कारिकाओं के रूप में कर लिया है।" ऐसा प्रवाद कुछ वङ्गवासियों में था।[१] किन्तु यह कल्पना ठीक नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि, मम्मट ने कुछ कारिकाएँ भरत के नाट्यशास्त्र से कुछ अविकल रूप से तथा कुछ स्वल्प परिवर्तन के साथ स्वीकृत की हैं। किन्तु समस्त कारिकाएँ भरत की न होकर आ. मम्मट की ही हैं।

---

१. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ११।

भरत की कारिकाओं का स्वीकार आ. मम्मट पर विद्यमान भरत के प्रभाव को सिद्ध करता है। वे कारिकाएँ हैं :—

(१) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥[१]

यह कारिका नाट्यशास्त्र के ६ ठे अध्याय में आती है। आचार्य मम्मट ने भरतोक्त आठों रसों का स्वीकार यथास्थित रूप में कर लिया है किन्तु जब उन्हें लगा कि "शान्त" भी एक रस हो सकता है तब उन्होंने यह भी कह डाला कि—

"निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। (पृ. ११७)

(२) एक अन्य कारिका है—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥[२]

यह भी कारिका भरत के नाट्यशास्त्र के अध्याय छः में उपलब्ध होती है। इसमें रसों के स्थायिभावो की सूची दी गयी है जिसे आचार्य मम्मट ने अविकल रूप से स्वीकृत कर लिया है।

(३) इसी प्रकार पृ. ११२ पर दी हुई व्यभिचारिभावों की सूची वाली कारिकाएँ भी भरत के नाट्यशास्त्र से ही ली हैं। इनका उल्लेख आचार्य भानुदेव ने अपनी रसतरङ्गिणी में "भरतसूत्र" के रूप में किया है। भरत का पाठ (अन्तिम पङ्क्ति) था "प्रयान्ति रसरूपताम्।" आचार्य मम्मट ने उसका उल्लेख "समाख्यातास्तु नामतः" रूप में किया। और सम्पूर्ण रूप से इस सूची को स्वीकार कर लिया।

(४) पृ. ८७ पर भरतोक्त रससूत्र का उद्धरण तथा विभिन्न मतोल्लेखपूर्वक उसका विवरण देते समय आ.मम्मट ने स्पष्ट ही कहा है, "उक्तं हि भरतेन" इ.। इस प्रकार आचार्य भरत का मम्मट पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

आचार्य भामह के मत का प्रभाव आचार्य मम्मट पर कुछ हद तक पड़ा है।

(१) चित्रालङ्कार–शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार भी चमत्कृतिजनक होते हैं। इस बात की पुष्टि के लिये आचार्य मम्मट ने:—

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. ९८।
२. दे. वही ११२।

तथाचोक्तम् :– रूपकादिलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥[1]

आदि तीन कारिकाओं में भामह के ग्रन्थ का उल्लेख किया हैं । यह भामह के मम्मट पर पड़े प्रभाव का ही उदाहरण है ।[2]

(२) अलङ्कारों में अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) का स्थान महत्व का होता है यह बात परिपुष्ट करने के लिए आचार्य मम्मट (का. प्र. झ. पृ. ७४३-४४) पर लिखते हैं :—अत एवोक्तम्,

सैषा सर्वत्र् वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।[3]

(३) आचार्य भामह "हेतु" को अलङ्कार नहीं मानते हैं। आचार्य दण्डी ने वह माना है ।[4] किन्तु भामह के अनुसार

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यभिधानतः ॥ (का. लं. भा. २।८६)

अर्थात् हेतु, सूक्ष्म तथा लेश में वक्रोक्ति न होने से वे अलङ्कार नहीं हो सकते। आचार्य मम्मट ने भी "हेतु" के अलङ्कारत्व का खण्डन करते समय कहा है—

इति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः ।
आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् ।[5]

यह विवेचन भी आचार्य भामह के प्रभाव का ही सूचक है ।

आचार्य वामन का भी कुछ अंश में मम्मट पर प्रभाव पड़ा है । आचार्य वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं । उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली आदि रीतियों का प्रतिपादन किया है । आचार्य मम्मट अनुप्रास के प्रकरण में उपनागरिका, कोमला, परुषा आदि वृत्तियों का परिचय देकर[6] आगे कहते हैं—"केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयों मताः"[7] तथा "केषांचित्"

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. २५८-५९ ।
२. दे. भा. का. अलं. १:१३, १४, १५ ।
३. भा. अलं. २-८५ ।
४. दे. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणौ । का. द. २-२३५ ।
५. दे. का. प्र. झ. पृ. ७०६ ।
६. दे. का. प्र. झ. पृ. ४९६-९७ ।
७. दे. का. प्र. झ. पृ. ४९८ ।

का अर्थ देते हैं "वामनादीनाम्"। अर्थात् इस अंश में वामन का सिद्धान्त आचार्य मम्मट को मान्य है। किन्तु इस प्रकार वामन के प्रभाव में आकर मम्मट आचार्य वामन की सभी बातें मानते नहीं हैं । वामन का मुख्य सिद्धान्त "रीतिरात्मा काव्यस्य" यही उनको संम्मत नहीं है। उसका उन्होंने जोरदार खण्डन किया है।[१] वामनोक्त शब्द तथा अर्थ के दस-दस गुण भी उन्होंने नहीं माने हैं । केवल शब्द के, और वे भी माधुर्य, ओजस् और प्रसाद तीन गुण ही, उन्होंने माने हैं ।[२] इसी प्रकार वामनकृत गुणालङ्कार-भेद-व्यवस्था भी आचार्य मम्मट ने नहीं मानी है।[३] अर्थात् आचार्य मम्मट अपने पर किसी का असंमत प्रभाव नहीं पड़ने देते।

आचार्य मम्मट पर ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य तथा उनके टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त का प्रभाव अधिक रूप में पड़ा हैं। ध्वनिकार के ध्वनि-विषयक प्रायः समस्त सिद्धान्त आ. मम्मट ने शिरोधार्य कर लिये हैं तथा उनकी अच्छी तरह से व्यवस्था दी है। अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर ध्वनिकार का उल्लेख भी किया है। ध्वनिकारदर्शित व्यञ्जनावृत्ति की सम्पूर्ण व्यवस्था आचार्य मम्मट ने प्रदर्शित की है। इस व्यवस्था में आचार्य अभिनवगुप्त के "लोचन" की सहायता भी उन्हें प्राप्त हुई है।

(१) गुणीभूतव्यङ्गयों के भेद बतलाते समय कारिका ४६ के "यथायोगम्" इस पद की व्याख्या करते समय आ. मम्मट लिखते हैं —

"यथायोगमिति। व्यज्यन्तैवस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥[४]

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूत-व्यङ्गयत्वम्।"[५] इस प्रकार ध्वनिकार के द्वारा किया दिशाप्रदर्शन आ. मम्मट ने मान्य किया है।

(२) इसी प्रकार "रसे दोषाः स्युरीदृशाः" (कारिका ६२) के "ईदृशाः": पद की व्याख्या करते समय आचार्य मम्मट ने लिखा है "ईदृशाः इति। नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम्। उक्तं हि ध्वनिकृता :—

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. ४७१-७२।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. ४७३।
३. दे. का. प्र. झ. पृ. ४७१।
४. ध्व. लो. उ. २ का. २९।
५. दे. का. प्र. झ. पृ. २१३।

"अनौचित्याद्दृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।[1]

इस प्रकार "ईदृशाः" में ध्वनिकारोक्त दिशा का ही अनुसरण आ. मम्मट ने किया है ।

(४) इसी प्रकार आ. मम्मट भट्टोद्भट के कुछ प्रभाव को मान्य करते हुए भी अपना स्वयं का मत कहने में रुकते नहीं हैं । १०म उल्लास में ससंदेह अलङ्कार का वर्णन करते समय उसका एक भेद "निश्चयान्तसंदेह" भी आ. मम्मट ने किया है । किन्तु भट्टोद्भट ने इसे माना नहीं है । इसका कारण "किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन"[2] इस प्रकार दिखा कर आ. मम्मट ने उद्भट के विषय में आदर-भाव दिखाया है । अतः निदान आदरभाव प्रकट करने इतना प्रभाव आ. मम्मट पर अवश्य पड़ा है ।

आ. रुद्रट का भी प्रभाव मम्मट पर अवश्य पड़ा है । नवम उल्लास में श्लेष के विषय में चर्चा करते समय आ. मम्मट, आ. रुद्रट के अभिमत का बड़े आदर के साथ उल्लेख करते हैं "तथा ह्युक्तं रुद्रटेन, स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु । आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः ।।[3]

अलङ्कारप्रकरण में तो मुख्य रूप से रुद्रट का ही अनुसरण किया गया है ।

आ. दण्डी द्वारा प्रतिपादित तत्वों को स्वीकार करके आ. मम्मट ने उनका भी प्रभाव मान्य कर लिया है । आ. दण्डी ने काव्यविधाओं में कथा-आख्यायिका इन भेदों का विस्तार से वर्णन किया है ।[4] इस भेद को सिद्धवत् मानकर आ. मम्मट अष्टम उल्लास में लिखते हैं "क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते (रचनादयः) । तथाहि । आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः" इ.[5]

इस प्रकार परम्परा से दण्डी का प्रभाव भी आ. मम्मट ने मान्य किया है ।

आ० मम्मट के द्वारा कुछ विषयों की चर्चा न किये जाने का कारण :

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में कुछ विषयों का विवेचन नहीं किया है । जैसे रूपकों की चर्चा । नाट्यशास्त्र का विवेचन । गद्यपद्यादिभेदेन

---

१. ध्व. लो. उ. ३ का. १४ वें प्रकरण में ।
२. दे. का. प्र. झ. पृ. ५९१ ।
३. का. अ. रु. ४-३२ ।
४. दे. का. द. १ पद्य २४ से २७ ।
५. का. प्र. पृ. ४८९-९० ।

काव्यभेद। भाषाभेदेन काव्यभेद आदि। इसके कारण दो हो सकते हैं। एक तो आ. मम्मट ने अपने ग्रन्थ की जो रूपरेखा निर्धारित की थी उसमें रूपक, नाट्यशास्त्र आदि की चर्चा करने का उनका इरादा नहीं था। तथा अन्य जो विषय छोड़ दिये गये हैं वे अतिस्पष्ट हो जाने के कारण आ. मम्मट को उन्हीं विषयों के प्रतिपादन में चर्वितचर्वण होने का भय-सा लग रहा था। अतः इन विषयों की चर्चा आ. मम्मट ने अपने ग्रन्थ में नहीं की।

आ. मम्मट का अन्य साहित्यशास्त्रियों पर प्रभाव :

आचार्य मम्मट ने समन्वयवाद की भूमिका को अपना कर साहित्यशास्त्र को जो नई दिशा प्रदान की थी उसका प्रभाव आगे के साहित्यशास्त्रियों पर स्पष्ट रूप से पड़ा है। आगे के साहित्यिकों ने "रस" की प्रधानता तथा काव्य में उसका महत्व का स्थान खुले मन से मान लिया, तथा गुण अलङ्कार रीति आदि अन्य अङ्गों को रसानुकूल योग्य स्थान देना आरम्भ कर दिया। इसका प्रमुख उदाहरण आ. विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण है। इसकी रचना ही समन्वय पद्धति से हुई है। इसमें वे विषय भी वर्णित हैं जिन्हें आ. मम्मट ने छोड़ दिया था। आ. मम्मट की अपेक्षा कुछ "नई" बातें भी ग्रन्थ में लाने का प्रयास आ. विश्वनाथ ने किया है। कहीं पर वे सफल रहे हैं कहीं पर असफल। यहाँ पर इसका विचार करना अभीष्ट नहीं है। हमें यही कहना है कि विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में जो समन्वय की पद्धति का अवलम्ब किया है वह आ. मम्मट का ही प्रभाव है। रसगङ्गाधरकार ने तो ग्रन्थ का नाम ही "रस" शब्द से दिया है तथा "रस" के महत्व का साक्षात् वर्णन किया है। आ. हेमचन्द्र के "काव्यानुशासन" (समय लगभग ११७० ई.) में म. म. काणेजी के अनुसार कुछ भी मौलिकता नहीं है। उसके ग्रन्थ में काव्यमीमांसा (रा. शेखर), काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक तथा अभिनवगुप्त की कृतियों का ही प्रभाव पड़ा है।[१] चन्द्रालोककार जयदेव ने (समय १२००-१२५० ई.) अलङ्कारों पर रचना की है। किन्तु साक्षात् नामोल्लेख न करते हुए भी उसमें आ. मम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा तथा दोषप्रदर्शन करने का प्रयास किया है। उनके ग्रन्थ चन्द्रालोक १-८ में यह कारिका आयी है —

> "अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।"

---

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ.२७७।

किन्तु आ. मम्मट पर इस प्रकार का दोषारोपण उनके अभिप्राय को न समझते हुए किया गया है। "अनलङ्कृती" का अर्थ "अलङ्काररहित" नहीं है, अपितु स्फुटालङ्काररहित" है जिसे आ. मम्मट ने अपने ग्रन्थ में ही स्पष्ट रूप से कहा है।[1] किन्तु इस प्रकार की चर्चा से आचार्य मम्मट का जयदेव पर जो प्रभाव है वह स्पष्ट हो जाता है। आ. विद्याधर रचित एकावली (१२८५-१३२५ ई.) ग्रन्थ भी काव्यप्रकाश के आधार पर रचित है।[2] इसकी रचना में जो उदाहरण उद्धृत किये हैं वे कवि के आश्रयदाता उत्कलदेशाधिपति "नृसिंह" की स्तुति में कवि के द्वारा रचित हैं। भूमिका के पद्य में विद्याधर लिखते हैं—"एष विद्याधरस्तेषु कान्तासंमितलक्षणम्। करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् (पद्य ७)। इसमें द्वितीयचरण से विद्याधर पर काव्यप्रकाश का जो प्रभाव है वह स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रन्थ में वर्णित साहित्यशास्त्रीय तत्व भी का. प्रकाश की दिशा में ही वर्णित हैं।

आ. विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण (१३-१४ वीं के मध्य में) म ९ विभागों में प्रायः साहित्यशास्त्रीय समस्त तत्वों की चर्चा की गयी है। इसका प्रचार दक्षिण भारत में अधिक है। तैलंगाना प्रान्त के काकतीयवंशीय राजा प्रतापरुद्रदेव जिनकी राजधानी एकशिल (वारंगल) थी, की स्तुति में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। म. म. काणे के अनुसार विद्यानाथ ने आ. मम्मट का अनुसरण किया है। केवल कुछ अलङ्कारों की चर्चा में उन्होंने अलङ्कारसर्वस्व को अपनाया है।[3]

आ. वाग्भट ने काव्यानुशासन लिखा है। (समय १४ वीं शती) यह द्वितीय वाग्भट है। इसमें प्रायः सारे साहित्यशास्त्रीय तत्वों की चर्चा की गयी है। इस ग्रन्थ के ५ अध्याय हैं तथा रचना सूत्र-वृत्ति-उदाहरण के रूप में है। इसमें मौलिकता प्रायः अविद्यमान है। राजशेखर की काव्यमीमांसा तथा मम्मट का काव्यप्रकाश इसका प्रमुख आधार है।[4]

ई. १६ वीं शती के उत्तरार्ध में आ. केशवमिश्र द्वारा रचित अलङ्कार शेखर भी काव्यप्रकाश की "कारिका-वृत्ति-उदाहरण वाली पद्धति से लिखा गया

---

१. दे. का. प्र. झ. पृ. १७।

२. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २८१।

३. दे. हि. सं. पो. का. पृ. २८३।

४. वही, पृ. २८४।

है। इसमें मुख्यतया काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश को आधार माना है। अर्थात् केशव मिश्र पर भी मम्मट का प्रभाव पड़ा है।[1] रसगङ्गाधरकार जगन्नाथ पण्डित साहित्यशास्त्र के अन्तिम रचयिता माने गये है। उनके विषय में म. म. काणेजी का यह वाक्य – "The Rasagangadhara stands next only to the Dhwanyaloka and the K. P. in the field of poetics."[2] आ. मम्मट की योग्यता को तथा साहित्यशास्त्रीय जगत पर पड़े उनके प्रभाव को स्पष्ट कर देता है।

आ. मम्मट का साहित्य-शास्त्र रचयिताओं में स्थान तथा महत्व :

आ. मम्मट के उपरान्त जो साहित्यशास्त्रकार हो गये उनमें प्रमुख ये हैं। रुय्यक (समय ११३५-५५ ई.), हेमचन्द्र (११५० ई.) रामचन्द्र, गुणचन्द्र, (१२ वीं शती), विद्यानाथ (१३-१४ वीं शती), विश्वनाथ, रूपगोस्वामी तथा मधुसूदनसरस्वती (लगभग १५५० ई.) अप्पयदीक्षित, (लगभग १६ वीं शती का अन्त) और जगन्नाथ पण्डित (१६२०-५०)।

आचार्य मम्मट के पश्चात् लगभग ५०० वर्षों में इन पण्डितों द्वारा की गयी साहित्यशास्त्रीय चर्चा से उसकी पद्धति में कुछ विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। ये सभी साहित्यिक ध्वनिवादी ही रहे हैं। इनके द्वारा कुछ नये विषयों की उद्भावना करने की चेष्टा अवश्य की गयी। किन्तु उनके नूतन सिद्धान्तों का, योग्य अनुयायी न मिलने से, अधिक प्रचार नहीं हो सका। जैसे अलङ्कार सर्वस्वकार रुय्यक ने अलङ्कारों के विवेचन में अत्यधिक रुचि दिखायी है। परिणाम, उल्लेख विचित्र, विकल्प जैसे नये अलङ्कार भी, जो मम्मट ने नहीं माने हैं। बतलाये हैं।[3] व्यतिरेक जैसे अलङ्कारों के विषय में अपना मतभेद भी बतलाया है।[4] रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र दोनों ने "रसास्वाद" के सुखदुःखवाद का सिद्धान्त प्रचलित करना चाहा। उनके अनुसार शृङ्गारादि पाँच रस सुखात्मक तथा करुणादि चार दुःखात्मक हैं तथा शान्तरस भी नाट्यरस है आदि प्रतिपादित किया गया है, किन्तु अनुयायियों के अभाव में इन सिद्धान्तों का प्रचार नहीं हो सका। आ. हेमचन्द्र ने पूर्वोक्त रसादि विषयों की ही चर्चा सुबोधपद्धति से की हैं। अलङ्कार ३६ तक कम किये हैं। तथा ध्वनि का नये सिरे से वर्गीकरण किया है। जयदेव ने (१३ वीं शती) १०० अलङ्कारों का वर्णन किया है। प्रतापरुद्रयशोभूषण के

---

१. दे. हि. सं. पो. का. पृ. ३०५।

२. वही, पृ. ३०९।

३. दे. अलं. स. रु., पृ. ५०, ५८, १६३, १८३.

४. दे. वही, पृ. ९६.

रचयिता विद्यानाथ ने (१३-१४ वीं शती) नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों की भी चर्चा की है। आ. विश्वनाथ का सा. दर्पण, आचार्य मम्मट के पश्चात् पाठ्यग्रन्थ के रूप में माना जाता है। इसमें नाट्य के साथ सम्पूर्ण काव्याङ्गों की चर्चा आयी है। इसका प्रसार बंगाल में अधिक है। सर्वप्रसिद्ध "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह काव्यलक्षण इन्हीं का है। इन्होंने "स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः" इत्यादि कहकर १० वाँ वत्सलरस भी माना है। अलङ्कारों के विवेचन में आ. विश्वनाथ काव्यालङ्कारसर्वस्वकार रूय्यक के बहुत कुछ रूप में ऋणी रहे हैं। अन्य साहित्यशास्त्रीय तत्वों का विवेचन सुबोध तथा स्पष्ट है। १५ वीं शती में साहित्यशास्त्र की चर्चा में भक्तिरस का तथा "चमत्कारवाद" का प्रवेश हुआ। इनके प्रतिपादक रूपगोस्वामी और मधुसूदनसरस्वती तथा "रसप्रदीप" के रचयिता प्रभाकर हैं। प्रभाकर ने काव्य की व्याख्या "चमत्कारविशेषकारित्वम्।" ऐसी की है। १६-१७ वीं शती में अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ हो गये। अप्पयदीक्षित प्रायः अलङ्कारों के विवेचक रहे हैं। उनके रचित दो ग्रन्थ हैं। चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द। इनकी चित्रमीमांसा (अपूर्ण ग्रन्थ.) का खण्डन जगन्नाथ पण्डित ने किया है। जगन्नाथ पण्डित का रसगङ्गाधर भी. अपूर्ण ग्रन्थ है। उसकी योग्यता ध्वन्यालोक या काव्यप्रकाश की पङ्क्ति में रखे जाने की नहीं है।[1] आचार्य अभिनवगुप्त के पश्चात् रसमीमांसा में जो कुछ "नया" प्रवेश कर गया है उसके दर्शन हमें रसगङ्गाधर में ही होते है। रसगङ्गाधर की तर्कपूर्ण विवेचन शैली, स्वतन्त्र विचारशक्ति, विवेचकता न्यायघटित भाषा आदि बातें दर्शनीय हैं। यदि रसगङ्गाधर सम्पूर्ण होता तो आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश के पश्चात् यही एक महत्व का ग्रन्थ होता। बड़े परिश्रम के साथ जगन्नाथ पण्डित ने रसगङ्गाधर की रचना की थी। उनका उद्देश्य अन्य अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों को "गलितगर्व" बनाना था।[2] जगन्नाथ पण्डित अलङ्कारशास्त्र का नये सिरे से पुनर्लेखन करना चाहते थे। किन्तु साहित्यशास्त्र के दुर्दैव से वह नहीं हो सका।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ के साथ भारतीय साहित्य शास्त्र की चर्चा (संस्कृत साहित्य में) समाप्त होती है। आचार्य मम्मट के पश्चात् लगभग ५ सौ वर्षों का यह समय है। किन्तु इतने प्रदीर्घ समय में साहित्यशास्त्रीय नई उद्भावनाएँ स्थिर नहीं हो सकी हैं। आचार्य मम्मट द्वारा किया मार्गदर्शन, उनके प्रतिपादित

---

१. दे. ग. श्यं. दे. पृ. ११७।
२. दे. निमग्नेन क्लेशै. .... गलितगर्वान् रचयतु। रसगङ्गाधर पृ. २-३।
३. दे. ग. श्यं. दे. पृ. ११३-२०।

सिद्धान्त, उनकी परम्परा ही अक्षुण्णरूप से चली आ रही है। आचार्य मम्मट का स्थान साहित्यशास्त्र में कितना महत्व का है। यह बात इसी से सिद्ध होती है। "भारतीय साहित्य शास्त्र" के रचियता देशपांडे भी भरत से जगन्नाथ पण्डित तक के लगभग २ सहस्त्र वर्षों के समय को ५ विभागों में बाँटते हैं। पहला "क्रियाकल्प" जिसमें भरत का नाट्यशास्त्र रचा गया तथा नाट्यक्रिया की चर्चा उसमें प्रधान रही। दूसरा विभाग है "काव्यलक्षण"। इसमें भामह तथा दण्डी का समावेश है। भरत के "काव्यलक्षणों" का अलङ्कारों में परिवर्तन इस समय में हुआ। तीसरा विभाग "काव्यालङ्कार" का है। इसमें भामह से रुद्रट तक का समय आता है। इसमें अलङ्कार, गुण, रस आदि काव्याङ्गों का स्वरूप यथाक्रम स्पष्ट होने लगा था। यह समय लगभग ६०० ई. से ८५० ई. तक का है। चतुर्थ विभाग "साहित्य" का है। इसमें आनन्दवर्धन से मम्मट तक का समावेश होता है। शब्दार्थों के साहित्य की सम्पूर्ण चर्चा इस समय में हुई है। काव्यचर्चा का सर्वोत्तम समय यही था। "काव्यालङ्कार" का "साहित्यशास्त्र". इसी समय में बना। यह समय ८५० ई. से ११०० ई. तक का है। पाँचवा विभाग "साहित्य पद्धति" का है। इसमें आ. मम्मट के निर्दिष्ट मार्ग पर ही भविष्य के आलङ्कारिक चले हैं। कुछ नया तत्त्वविचार सफलता के साथ नहीं किया गया। जगन्नाथ ने साहित्य का पुनर्लेखन करने का प्रयास अवश्य किया। किन्तु पद्धति आ. मम्मट की ही थी।[1] इस विवेचन से भी आ. मम्मट का स्थान कितना श्रेष्ठ है इसका ज्ञान होता है।

आ. मम्मट के महत्व के विषय में तथा उनकी श्रेष्ठता के विषय में का. प्र. के टीकाकारों ने बहुत कुछ कहा है। इस ग्रन्थ पर लगभग ७०-८० टीकाओं का रचा जाना यही अपने आप में आ. मम्मट की श्रेष्ठता का परिचायक है।

(१) आ. भीमसेन अपनी "सुधासागर" टीका में कहते हैं :—

"शब्दब्रह्मसनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित्केन चित्।
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत्काश्मीरदेशे पुमान्। भू. पद्य ४।

अर्थात् आ. मम्मट साक्षात् देवी सरस्वती के अवतार थे।

तथा :–

(२) कस्तस्य स्तुतिमाचरेत्कविरहो को वा गुणान्वेदितुं।
शक्तः स्यात्किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः॥ भू. पद्य ६।

---

१. दे. ग. त्र्यं. दे. पृ. १२१-१२२।

अर्थात् आचार्य मम्मट के गुणों का ज्ञान ठीक तरह से किसी को भी नहीं हो सकता तथा उनकी स्तुति करने में भी कोई समर्थ नहीं है।

(३) क्वाहं मन्दमतिः क्व चातिगहनः काव्यप्रकाशाभिधो।
ग्रन्थः कुत्र सहायता कलियुगे कुत्रास्ति शिष्टादरः।
युक्तो नैव महाप्रबन्धरचने यत्नस्तथापि ध्रुवं।
श्रीकृष्णाङ्घ्रिसरोजसेवनपरः शङ्के न किञ्चित् क्वचित्। भू. पद्य ९।

इस पद्य में भी का. प्र. ग्रन्थ अतिगहन होने से मेरे जैसे मन्दमति द्वारा इसकी व्याख्या भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से ही अवश्यमेव होगी यह भावना व्यक्त की गई है।

(४) श्री गोविन्दठक्कुर कृत काव्यप्रदीप में आ. मम्मट पर शैथिल्य का आरोप किया गया था। उसका खण्डन भीमसेन ने किया है और अन्त में कहा है:

"तस्माद् गोविन्दमहामहोपाध्यायानामीर्ष्यामात्रमवशिष्यते।
न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतावतारोक्तिं। (मम्मटोक्तिम्)
आक्षेप्तुं प्रभवन्ति, किं पुनर्मानुषा मशकाः।

अर्थात् आ. मम्मट श्री सरस्वती के अवतार हैं। अतः उनका कथन साक्षात् बृहस्पति भी खण्डित नहीं कर सकते। फिर मच्छर-जैसे मनुष्यों की क्या बात?[1]

(५) आ. देवनाथ भट्टाचार्य अपनी "काव्यकौमुदी" नाम की काव्य-प्रकाश की टीका की भूमिका में लिखते हैं —

"य एष कुरुते मनो विपदि गौरवीणां गिरां
स वामन इवाम्बरे हरिणलाञ्छनं वाञ्छति।
लिलङ्घिषति सिंहिकारमणकेसरं फेरुवत्।
पतङ्ग इव पावकं नृहरिमावकं धावति।।

अर्थात् काव्यप्रकाश के कथन पर किसी प्रकार की आपत्ति लाने की इच्छा करना किसी बौने के द्वारा आकाश में चन्द्रमा को पकड़ने की इच्छा करने जैसा है, किसी सियार के द्वारा सिंह के आयाल पर आक्रमण करने की इच्छा करने-जैसा है, तथा शलभ द्वारा आग पर आक्रमण किया जाने जैसा है। इ.।

(६) आनन्द कवि ने अपनी "सारसमुच्चय" अथवा "निदर्शना" टीका में शारदा को नमन किया है। वह स्वयं काश्मीरी तथा शैव था। अतः उसने

---

१. दे. का. प्र. झ. भू. पृ. ८।

काव्यप्रकाशकार आ. मम्मट के विषय में "शिवागमप्रसिद्धया षट्त्रिंशतत्त्वदीक्षाक्षपितमलपटलः प्रकटितसत्स्वरूपश्चिदानंदघनः राजानककुलतिलको मम्मटनामा दैशिकवरो अलौकिककाव्यस्य प्रकाशने प्रवृत्तोऽपि." इत्यादि ग्रन्थ से आ. मम्मट को शैवदर्शन के ज्ञाता तथा साक्षात्कारी कहकर काव्यप्रकाश को भी "शिवागम प्रसिद्धान् षट्त्रिंशत्तत्वरूपान् पदार्थान् प्रदर्श्य काव्यप्रकाशो व्याख्यातः । इस प्रकार प्रशंसित किया है ।

(७) आ. महेश्वर ने काव्यप्रकाश के विषय में कहा है —

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्थाप्येष तथैव दुर्गमः ।"

अर्थात् अनेक टीकाओं के होने पर भी काव्यप्रकाश दुर्गम ही रहा है ।

(८) आ. नागोजीभट्ट अपने "प्रदीप" पर लिखे "उद्योत" की भूमिका में लिखते है :- नागेशभट्टः कुरुते प्रणम्य शिवया शिवम् ।

काव्यप्रदीपकोद्योतमतिगूढार्थसंविदे ।।[१]

तथा :- सेतौ नागेशबद्धेऽस्मिन्नलङ्कारमहोदधेः ।

सतां मतिः सञ्चरतां यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।[२]

अर्थात् काव्यप्रकाश गूढ़ अर्थ से भरा हुआ है तथा वह अलङ्कारशास्त्रीय तत्वों का समुद्र है । इस समुद्र के पार जाने के लिए तथा गूढ़ अर्थ की जानकारी के लिए यह "उद्योत" रचा गया है ।

(९) आचार्य वामनशास्त्री झलकीकर अपनी टीका "बालबोधिनी की समाप्ति में कहते हैं —

"काव्यप्रकाशगम्भीरभावबोधो न चान्यतः ।
इति हेतोर्मया यत्नः कृतोऽयं विदुषां मुदे ।।[३]

इस प्रकार अनेक टीकाकारों ने इस ग्रन्थ को गहन, गंभीर, दुर्गम बतलाते हुए भी उसे साहित्यशास्त्रीय तत्वरत्नों का सागर कहा है तथा उसका भाव स्पष्ट करने के लिए अनेक टीकाकार उस पर (अक्षरशः) टूट पड़े हैं । यही इस ग्रन्थ की महत्ता है तथा इसी के कारण आ. मम्मट का स्थान साहित्यशास्त्र की परम्परा में सर्वश्रेष्ठ ठहरता है ।

* ● *

१. दे. "उद्योत" के आरंभ में ।
२. दे. उद्योत के अन्त में ।
३. दे, बा, बो, अन्तिम पद्य ८ ।

परिशिष्ट – १

आधारभूत ग्रन्थों की सूची तथा संक्षेप :—

अग्निपुराण	।
अमरुकशतक	: अर्जुनवर्मदेवकृतटीका समेत ।
अभिधावृत्तिमातृका	: मुकुलभट्टरचित ।
अलङ्कार शेखर	: केशव मिश्र ।
अलङ्कारसर्वस्व	: रुय्यकरचित, टीकाकार समुद्रबन्ध ।
अलङ्कारसर्वस्व	: रुय्यकरचित, जयरथकृत, काव्यमाला सेरीज "विमर्शिनी" सहित । (अलं. स.)
अलङ्कारसर्वस्व	: रुय्यकविरचित, सञ्जीवनी समेत । प्र. डॉ. राघवन, १९६५ (अलं. स. रु.) ।
अलङ्कारसारसंग्रह	: भट्टोद्भटरचित । प्रतिहारेन्दुराजकृत टीका समेत । बाँ. सं. से. १९२५ । (अ. सा. सं.)
अष्टाध्यायी	: पाणिनिरचित ।
आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन	: ले. जयशंकरप्रसाद त्रिपाठी, प्रयाग १९६८ (आ. दं. ज. त्रि.) ।
एकावली	: विद्याधररचित ।
औचित्य-विचार-चर्चा	: क्षेमेन्द्रविरचित (औ. वि. च.) ।
कविकण्ठाभरण	: क्षेमेन्द्रविरचित । (क. क.)
कामसूत्र	: वात्स्यायनविरचित । यशोधरकृत टीका सहित ।
काव्यादर्श	: आचार्य दण्डी विरचित (का. द.)
काव्यालङ्कारसूत्र	: वामन विरचित । नि. सा. प्रे. १९२६ (का. सू. वा.) ।
काव्यालङ्कार	: रुद्रटविरचित । नमिसाधुकृतटीकासहित तथा सत्यदेव चौधरीकृत-व्याख्यासमेत । १९६५ (का. अ. रु.) ।
काव्यालङ्कार	: भामहविरचित । (का. लं. भा.) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना १९६२ ई. ।

काव्यानुशासन : हेमचन्द्राचार्यविरचित ।
काव्यानुशासन : वाग्भटविरचित। स्वरचित अलंकारतिलक टीका समेत।
काव्यकौतुक : भट्टतौतविरचित ।
काव्यमीमांसा : राजशेखरविरचित । मधुसूदनीविवृतिसहित । चौ. सं. से. वाराणसी १९६२ (का. मी.)
काव्यप्रकाश : मम्मटविरचित, वामनाचार्य झलकीकरविरचित टीका समेत । भा. रि. ओ. इ. द्वारा प्रकाशित ५म संस्करण ई. स. १९३३ । (का. प्र. झ.)
काव्यप्रकाश : ,, ,, माणिक्यचन्द्ररचित "संकेत" समेत । आनंदाश्रम मुद्रणालय, पूना १९२१ ई. । (संकेत)
काव्यप्रकाश : ,, ,, प्रदीप उद्योत, प्रभा समेत ।
काव्यप्रकाश : ,, ,, राजानक आनंदरचित 'निदर्शना' समेत।
काव्यप्रकाश : ,, ,, विद्याचक्रवर्तीकृत "संप्रदायप्रकाशिनी" समेत । (सम्प्रदाय प्र.)
काव्यप्रकाश : ,, ,, भीमसेनविरचित "सुधासागर" टीका समेत । चौ. सं. सी. (सु. सा.)
काव्यप्रकाश : चण्डीदासरचित "दीपिका" समेत ।
काव्यप्रकाश : आ. विश्वनाथ विरचित दर्पण समेत । (का. प्र. दर्पण)
काव्यशास्त्रीय निबन्ध : ले. डा. सत्यदेव चौधरी । वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली १९६३ ।
काव्यानुशासन : आ. हेमचन्द्र । काव्यमालासेरीज । (काव्यानु.)
चन्द्रालोक : जयदेवविरचित ।
चित्रमीमांसा : अप्पय दीक्षित । वाणीविहार, वाराणसी १९६५ ।
ध्वन्यालोक : आ. आनन्दवर्धनविरचित । लोचन टीका सहित (ध्व.)
ध्वन्यालोक : ,, ,, आ. विश्वेश्वरविरचित हिन्दी व्याख्या समेत । ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १९६२ । (ध्व.)
ध्वनि सिद्धान्त और व्यञ्जनावृत्तिविवेचन : ले. डा. गयाप्रसाद उपाध्याय, आगरा १९७० । (ध्व. सि. व्यं.)

नवसाहसाङ्कचरितम् : आ. पद्मगुप्त। (नव.)

नाट्यशास्त्र : भरतमुनि विरचित। रामकृष्णकवि संपादित। अभिनव भारती के साथ। गा. ओ. से. बड़ोदा। (ना. शा. अ. भा.)

नाट्यशास्त्र : भोलानाथशर्माकृत अनुवाद समेत। साहित्य निकेतन, कानपुर (१९६०)

निरुक्त : महर्षि यास्कप्रणीत।

नैषधीयचरितम् : श्रीहर्षरचित नि. सा. प्र. ई. स. १९२८ (नै.)

परमलघुमंजूषा : नागेशभट्टविरचित। (प. ल. मं.)

पातञ्जल महाभाष्य : म. पतञ्जलि विरचित।

प्रतापरुद्रयशोभूषण : विद्यानाथ विरचित।

ब्रह्मसूत्र : महिष व्यास रचित।

भट्टिकाव्य : आ. भट्टिविरचित। (भ. का.)

भारतीय साहित्यशास्त्र : डा. ग. त्र्यं देशपाण्डे, मुम्बई १९५८ (ग. त्र्यं. दे.)

भारतीय साहित्यशास्त्र भाग २ : आ. बलदेव उपाध्याय। प्रसाद परिषद्, काशी। सं. २०१२ (भा. सा. शा. पा.)

महाराष्ट्र साहित्यपत्रिका : अंक १०१-१०२

रस-तरङ्गिणी : आ. भानुदेवविरचित।

रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथविरचित। निर्णयसागर मुद्रणालय १९३९।

राजतरङ्गिणी : कल्हणविरचित। (रा. त.)

वक्रोक्तिजीवित : आ. कुन्तकविरचित (व. जी.)।

वाजसनेयिसंहिता भाष्य : आ. उवट।

व्यक्तिविवेक : आ. महिमभट्ट। (व्य. वि.)

व्याकरणमहाभाष्य : महर्षि पतञ्जलिविरचितम्।

शृङ्गारप्रकाश : भोजविरचित। डा. राघवन् द्वारा संपादित।

श्रीकण्ठचरित : आचार्य मंख विरचित।

संस्कृत आलोचना : आ. बलदेव उपाध्याय। सूचना विभाग उ. प्र. १९६३

सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजराज विरचित (स. कं. भ.)

सर्व-दर्शन-संग्रह : श्री माधवाचार्य । भा. ओ. इ. पूना । (स. द. सं)

साहित्यदर्पण : आ. विश्वनाथविरचित । "विवृति" समेत नि. सा. प्रे. १९२२ । (सा. द.)

साहित्य-मीमांसा : आ. रुय्यकविरचित ।

संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला । (सं. सा. का. इतिहास) चौ. विद्या भवन, वाराणसी । आदि, आदि ।

ENGLISH BOOKS

1 Bhattikavya : A Study — Dr. Satyapal Narang 1969 (B.K.N.)

2 History of Sanskrit Poetics : M. M. P.V. Kane, 1951 (H. S. P.) (हि. सं. पो. का. अथवा हि.सं.पो.) इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है। अनुवादकर्ता हैं डॉ. इन्द्रचन्द्रशास्त्री ।

3 History of Sanskrit Poetics : Sushil Kumar De; II Edn. 1960 (सु. कु. डे.)

4 Journal of Royal Asiatic Society (J. R. A. S.)
Etc, etc.

★●★

परिशिष्ट–२

प्रमुख साहित्यशास्त्रियों का समय तथा साहित्य :

१ भरतमुनि	: नाट्यशास्त्र, समय २०० ई. पू. से २०० ई.।
२ भामह	: काव्यालङ्कार, समय ६०० ई. से ७०० ई.।
३ दण्डी	: काव्यादर्श, समय ६०० ई. से ७०० ई.।
४ लोल्लट	: रसविवरण (अनुपलब्ध), समय ७००-८०० ई.।
५ उद्भट	: काव्यालङ्कारसंग्रह तथा भामहविवरण (अनु.), समय ८०० ई.।
६ वामन	: काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, समय ८०० ई.।
७ श्री शङ्कुक	: —?—समय ८४०-८५० ई.।
८ रुद्रट	: काव्यालङ्कार, समय ८५० ई.।
९ आनन्दवर्धन	: ध्वन्यालोक, समय ८५० ई.।
१० राजशेखर	: काव्यमीमांसा, समय ९००-९२५ ई.।
११ मुकुल	: अभिधामातृका, समय ९०० से ९२५ ई.।
१२ प्रतिहारेन्दुराज	: उद्भट के व्याख्याता, समय ९०० से ९२५ ई.।
१३ भट्टतौत	: काव्यकौतुक (अनुप.), समय ९६० से ९९० ई.।
१४ भट्टनायक	: हृदयदर्पण (अनुप.), समय ९०० से १००० ई.।
१५ कुन्तक	: वक्रोक्तिजीवित, समय ९५० से १००० ई.।
१६ धनञ्जय	: दशरूपक (नाट्यशास्त्र) समय, ९०० से १००० ई.।
१७ अभिनवगुप्त	: ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र की टीकाएँ, समय ९७०-१०२५ ई.।
१८ भोज	: सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश, समय १०१५ से १०५० ई।
१९ महिमभट्ट	: व्यक्तिविवेक, समय १०२० से १०६० ई.।
२० क्षेमेन्द्र	: औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण, समय १०२५ से: १०६० ई.।

२१ मम्मट	:	काव्यप्रकाश, शब्दव्यापारविचार, समय ११०० के लगभग ।
२२ रुय्यक	:	अलङ्कारसर्वस्व समय, ११३५-११५५ ई. ।
२३ हेमचन्द्र	:	काव्यानुशासन समय, ११५०-११७२ ई. ।
२४ विश्वनाथ	:	साहित्यदर्पण समय, १३००-१३५० ई. ।
२५ प्रभाकर	:	रसप्रदीप समय, १६०० ई. ।
२६ मधुसूदनसरस्वती	:	भक्तिरसायन समय, १५५० ई. के लगभग ।
२७ अप्पय दीक्षित	:	कुवलयानन्द चित्रमीमांसा, समय १६०० ई. ।
२८ जगन्नाथ	:	रसगङ्गाधर, समय १६२०-१६५० ई. ।

सूचना : ये तिथियां आचार्य म. म. काणे के हि. सं. पो. से तथा डॉ. ग. त्र्यं. दे. के भार. सा. शास्त्र से उद्धृत हैं ।

शुद्धिपत्रक

–●–

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	टि. ५	यथाक्रमपनु.	यथाक्रममनु.
४	टि. ६	प्रपद्या	प्रपठ्या
६	टि. ४	पृ. ४०५	पृ. २३८
१०	२४	परिसंख्यैवा	परिसंख्यैव
१२	१७	मम्मट	मम्मट को
१४	१४	--र्योगाहृते	र्योगाद्वृत्ते
१९	६	अभिज्ञा	अभिधा
२०	टि. २	सं. सं. का	सं. सा. का
२१	२०	नैतों	नैतां
४०	४	कौमुनी	कौमुदी
५२	८	वामन ते	वामन ने
५४	६	—रस्याङ्ग. इ.	—रस्याङ्ग. इ.
६१	३	करता	करना
६४	४	अनुप्रास (५ प्र.)	अनुप्रास (३ प्र.)
७३	४	जुहीति	जुहोति
८९	२४	....स्थान्नवर्ण	...स्थानवर्णं
९६	टि. ४	काकुयक्रोक्ति	काकुवक्रोक्ति
१०६	३	मत्हव	महत्त्व
११०	२३	तात् प्रति	तान् प्रति
११४	टि. २	अनेनांनन्त्यमायाति कविवां	अनेनानन्त्यमायाति कवीनां
११५	५	वाङ्गय	वाङ्मय
१२१	४	(द)	([illegible])

पृष्ठ		पङ्क्ति		अशुद्ध		शुद्ध
१२२	:	टि. ४	:	Kavyanlankar	—	Kavyalankar
१३०	:	१६	:	अर्थवन्यते	—	अर्थ ध्वन्यते
१३५	:	१	:	अब्द	—	शब्द
१३६	:	९	:	५ प्रकार	—	३ प्रकार
१३७	:	टि. १	:	तद्वदवा	—	तद्वदेवा
१४५	:	१३	:	वक्रोत्त्यभिधानत:	—	वक्रोत्त्यनभिधानतः
१५४	:	१	:	– त्रिशतत्त्व	—	– त्रिंशत्तत्त्व

सूचनाः– केवल महत्त्व की अशुद्धियां ऊपर दी गयी हैं।